जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 4 • अप्रैल, 2004

With Best Compliments From :

Our Respectful Homage to...

Late H. RATANCHAND NAHAR

RATANCHAND RAMESHCHAND

HIRE PURCHASE FINANCIERS FOR :

ALL VEHICLES

Head Office

"HEERAA MANSION"
20, GENERAL MUTHIA MUDALI STREET
SOWCARPET, CHENNAI 600079
Telephone Nos. : 25366570 / 25366573

Branch Office

BANGALORE : "RATAN MANSION", 35 (OLD No.: 170)
VIth Cross, Gandhi Nagar, BANGALORE 560009
Telephone : 22250825, 22265751 Telefax : 080-22256738
e-mail:ramepav@bgl.vsnl.net.in.

Our Associates

- **H. RATANCHAND NAHAR & SONS**
- **SITA AUTO FINANCE**
- **RAMESHCHAND PAVANCHAND**
- **RAMESHCHAND NAHAR & SONS**
- **SHOBA CREDIT CORPORATION**
- **PAVAN INVESTEMENTS**
- **ANJANA INVESTMENTS**

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बचछराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • अप्रैल, 2004 • अंक 4

विमर्श

9
प्रो. दयाकृष्ण
बौद्धिक परंपराएं और भविष्य

17
माणकचंद सिंघी
महावीर का अर्थशास्त्र : विकास की अवधारणा

रपट

20
जलगांव में संपन्न 140वां मर्यादा महोत्सव

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

23
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
भगवान महावीर : जीवन और सिद्धांत

32
आचार्यश्री तुलसी
सच्चम्मि धिइं कुव्वहा

35
मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'
विणओ शासणे मूलं : विणीओ संजओ भवे

37
कहानी
दिलीपकौर टिवाणा
चक्रवात

42
कविता
हर्षदेव माधव की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-अनेकांत

शीलन

45
समणी मल्लिप्रज्ञा
अज्ञानं खलु कष्टं

49
साध्वी लक्ष्मीकुमारी
जाति नहीं—आचार का महत्त्व

51
मुनि रश्मिकुमार
व्यवहार है व्यक्तित्व का दर्पण

54
बालकथा
लियो तोल्सतोय
तीन सवाल

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

रोटी के लिए कैसे छोड़ूं?

एक बहिन बहुत बार स्वामीजी से आहार लेने के लिए प्रार्थना करती थी—कभी मेरे घर भी आप गोचरी के लिए पधारें। एक दिन स्वामीजी उसके घर पर पधारे। वह स्वामीजी से बहुत राजी हुई और आहार देने लगी। तब स्वामीजी ने पूछा—'लगता है, तुम्हें हाथ तो धोने पड़ेंगे।'

तब वह बोली—'हां! हाथ तो धोने पड़ेंगे।'

स्वामीजी ने पूछा—'हाथ सजीव पानी से धोओगी या गरम पानी से?'

वह बोली—'गरम पानी से धोऊंगी।'

तब स्वामीजी बोले—'कहां धोओगी?'

उसने नाली की ओर संकेत करते हुए कहा—'यहां धोऊंगी।'

स्वामीजी ने कहा—'यह पानी कहां गिरेगा?'

उसने कहा—'यह नीचे गिरेगा।'

स्वामीजी ने कहा—'नीचे पानी गिरने से वायुकाय आदि जीवों की हिंसा होगी, इसलिए मैं तुम्हारा आहार नहीं ले सकता।'

वह बोली—'आप तो आहार देखकर ले लें। हम गृहस्थ हैं और अपना कार्य करते हैं, उसमें आपको क्या आपत्ति होती है? हमारी सांसारिक क्रिया हम कैसे छोड़ेंगे?

तब स्वामीजी ने कहा—'हे बहिन! तुम्हारी इस कर्म-बंधन करने वाली सावद्य-क्रिया को भी तुम नहीं छोड़ती हो तो रोटी के लिए मैं अपनी निरवद्य-क्रिया को कैसे छोड़ूं?' यह कहकर स्वामीजी वहां से चले गए। ❖

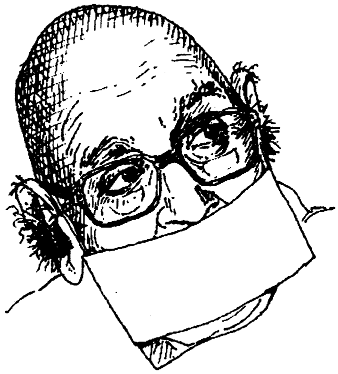

अनेकांत सहिष्णुता का दर्शन है। यह व्यक्ति को सहना सिखाता है। सर्दी-गर्मी को मिटाया नहीं जा सकता, सहा जा सकता है। निर्ग्रंथ कौन होता है? 'सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे'—जो शीत और उष्ण को सहन करता है, अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहता है—वह निर्ग्रंथ होता है। जो अरति और रति को सहन करता है—वह निर्ग्रंथ होता है। जो प्रतिशोध की भावना को मिटाता है—वह निर्ग्रंथ होता है। निर्ग्रंथता के ये मानक अनेकांत को जीने से ही घटित हो सकते हैं।

राजनीति का क्षेत्र हो या समाजनीति का, धर्मनीति का हो या शिक्षानीति का—सफलता के लिए अनेकांत जैसे दर्शन को व्यवहार्य बनाना आवश्यक है।

—आचार्यश्री तुलसी

आत्मा स्थाई है। शरीर नश्वर है। एक अवधि के पश्चात् शरीर समाप्त हो जाता है, पर आत्मा का कभी नाश नहीं होता। इसलिए आत्मा की सुरक्षा अत्यंत आवश्यक है। आगम की वाणी है—'अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो'—आत्मा की सुरक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की अपेक्षा नहीं है। आत्मा की रक्षा के लिए आवश्यक है—इंद्रिय संयम और राग-द्वेष से उपरत होने की साधना। सुख की उपलब्धि का भी यह सर्वोत्तम उपाय है। असुरक्षित आत्मा जन्म-मरण के चक्र में अनुवर्तन करती है। इसलिए जहां ऐसी प्रतीति हो कि संयम खतरे में है, वहां शरीर को गौण करके आत्मा की सुरक्षा करनी चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति के मन में कामना होती है। कामनाओं के अनेक प्रकार हैं। कुछ साधक साधना के द्वारा निष्काम बन जाते हैं। कामना की गई—प्रभो! मुझे आरोग्य, बोधि और समाधि प्रदान करें। व्यक्ति को अपने मंगल के साथ-साथ संपूर्ण विश्व के मंगल की भी कामना करनी चाहिए। दूसरों का हित करने वाला अपना हित स्वतः साध लेता है।

—युवाचार्य महाश्रमण

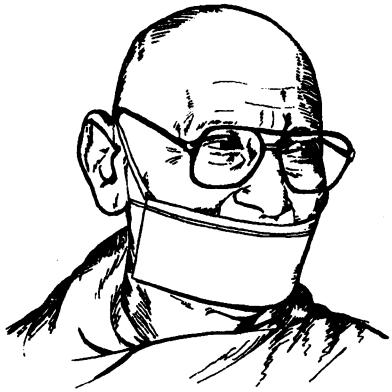

परिवर्तन संभव है, इसलिए नए मानव, नए समाज और नए विश्व की कल्पना असंभव कल्पना नहीं है, अशक्य कल्पना नहीं है।

परिवर्तन का मूल हेतु है—दृष्टिकोण। उसी के आधार पर बनता है—सिद्धांत। सिद्धांत की क्रियान्विति का अर्थ है—परिवर्तन। हम परिवर्तन करना चाहते हैं, उसके लिए सम्यक्-दर्शन की अपेक्षा है और उसका विकास करना नहीं चाहते। परिवर्तन और सम्यक्-दर्शन—इन दोनों के बीच सबसे बड़ी बाधा है—मान्यता। हर व्यक्ति, हर संगठन की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। मान्यताओं के आधार पर नए मानव, नए समाज और नए विश्व की कल्पना नहीं हो सकती।

मान्यता अपने स्वार्थ और अपने हित पर आधारित हो जाती है, इसलिए व्यक्ति अपने स्वार्थ और अपने हित की बात सोचता है, दूसरे के हित और स्वार्थ की बात गौण कर देता है। जाति और संप्रदाय के अभिनिवेश की मूल जड़ यही है। इसी जड़ का विस्तार संघर्ष, कलह और युद्ध के रूप में होता है।

सम्यक्-दर्शन का विकास होने पर मान्यता सत्य की खोज में बदल जाती है, विरोधी हितों का द्वंद्व भी समाप्त हो जाता है। दो जातियों, दो संप्रदायों, दो वर्गों के हित भी परस्पर विरोधी माने जाते हैं। वास्तव में वे विरोधी नहीं हैं, किंतु मिथ्या-दर्शन के कारण उनको विरोधी माना जा रहा है। सम्यक्-दर्शन का विकास होने पर विरोधी लगने वाले हित अविरोधी बन जाते हैं—एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

सम्यक्-दर्शन का अर्थ है—अनेकांतवाद। मिथ्या-दर्शन का अर्थ है—एकांतवाद।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-अनेकांत

मनुष्य मूलतः हिंसक नहीं है, उसका मूल स्वभाव अहिंसक ही है। किसी भी स्वभाव के व्यक्ति को हम देखें, पाएंगे कि उसका अधिकांश—कहा जा सकता है कि सर्वाधिक—समय अहिंसा-वृत्ति में ही बीतता है। निजी जीवन हो अथवा सार्वजनिक जीवन—बुनियादी तौर पर उसका विश्वास अहिंसा-वृत्ति में ही होता है। बहुत गहरी बात होगी, पर माना ही जाता है कि अहिंसक होना ही मनुष्यता है। अमानुषिकता का व्यवहार करने वाले भी अक्सर अपने किए के पक्ष में तर्क यही देते हैं कि मनुष्यता की रक्षा के लिए उनको हिंसक होना पड़ा। हम देखते ही हैं कि सैन्य संसाधनों के संग्रह और उसकी लगातार वृद्धि के पक्ष में भी यही तर्क दिया जाता है कि शांति के लिए ऐसा किया गया है। आणविक आयुधों का बढ़ता विस्तार और शासकों की ओर से दिए जाने वाले स्पष्टीकरण, कि विश्व को युद्ध की ज्वाला से बचाने के लिए आणविक शस्त्रों से सुसज्जित होना जरूरी है—आदि-आदि तर्कों से भी यही बात निकलती है कि विश्वास तो अहिंसा में ही है, पर अपने विश्वास की रक्षा के लिए टेक हिंसा की ली जाती है। यह विरोधाभास क्यों?

दरअसल हमारे आग्रह ही इस विरोधाभास की जड़ हैं। विचारों और सिद्धांतों के प्रति दृढ़ होना व्यक्ति का विशिष्ट गुण और पहचान मानी जा सकती है और ऐसा होना ही चाहिए, पर ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए कि किसी अन्य के सिद्धांत और विचार का हनन हो। प्रतिकार की भाषा भी यदि कहीं आवश्यक हो तो वह युक्तिपूर्ण होने के साथ ही सम्मानपूर्ण भी हो। यदि ऐसा सर्वत्र होने लगे और हर कोई अपने सम्मान के साथ-साथ अन्यों के सम्मान के प्रति भी सचेत रहे तो अहिंसक वातावरण का निर्माण हो सकता है। इस दृष्टि से भगवान महावीर के अनेकांत सिद्धांत को हमें देखना चाहिए।

महावीर ने अहिंसा को एक व्रत की श्रेणी में रखा, पर साथ ही अनेकांत सिद्धांत का प्रतिपादन भी किया कि जिससे अहिंसा की साधना व्यावहारिक रूप में भी सहजता से हो सके। व्रत के रूप में अहिंसा की साधना एक साधक के लिए परम आवश्यक मानी गई है, वहीं सामाजिक स्तर पर भी स्वस्थ समाज-निर्माण में अहिंसा की महती भूमिका है। अनेकांत की आवश्यकता भी सर्वाधिक रूप में यहीं दृष्टिगत होती है। सामाजिक स्तर पर व्यवहार का पक्ष प्रमुख होता है और सुदृढ़ समाज का आधार भी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का व्यवहार ही होता है। इस दृष्टि से व्यवहार-कुशलता का बोधपाठ हम अनेकांत में तलाश सकते हैं। अनेकांत के आधुनिक भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी तो अहिंसक समाज की रचना में अनेकांत की महत्त्वपूर्ण भूमिका की संभावना देखते हैं। इसीलिए वे

कहते हैं—संबंधों का निर्धारण करने के लिए सापेक्ष दृष्टि का निर्धारण करना चाहिए। वे सापेक्षता को अनेकांत का पहला सिद्धांत मानते हैं और कहते हैं—'वर्गभेद और विरोधी हितों के सिद्धांत की सापेक्षता के संदर्भ में समीक्षा करना जरूरी है। सापेक्षता के आधार पर विरोधी हितों में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। विरोधी हितों की निरपेक्षता के आधार पर मीमांसा की जाए तो उसका फलित होता है संघर्ष, हिंसा और साधन-शुद्धि के सिद्धांत का परिहार।'

हिंसा के मूल में बहुत-से कारणों में से एक कारण 'साधन-शुद्धि' का लोप भी है। यह बुनियादी कारण भी माना जा सकता है। किसी भी कार्य के निमित्त में 'साधन-शुद्धि' की केंद्रीय भूमिका होती है। महात्मा गांधी ने देश की स्वतंत्रता के संपूर्ण आंदोलन में साधन-शुद्धि को सर्वाधिक महत्त्व दिया। न केवल आजादी के आंदोलन, समाज-सुधार और स्वावलंबन के कार्यों में भी गांधी का जोर साधन-शुद्धि के प्रति सबसे अधिक रहता था। वे मानते थे कि किसी भी उद्देश्य को पाने में साधनों के इस्तेमाल का बड़ा महत्त्व है। यदि 'साधन' अशुद्ध हैं तो उद्देश्य प्राप्ति के बाद भी उससे निकलने वाले नतीजे सुखकर नहीं होंगे। वर्तमान विकास के संपूर्ण परिदृश्य को हम ध्यानपूर्वक देखें—इस विकास से बाजारवाद, विषमता और पूरी न होने वाली लालसाओं को प्रश्रय मिला है। ऐसा क्यों हुआ? हम पाएंगे कि जिस तरह के साधनों का इस्तेमाल इसमें हुआ है—उसके नतीजे यही हो सकते हैं—जो आज हम भोग रहे हैं। अतः अहिंसक समाज-रचना में 'साधन-शुद्धि' एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

अनेकांत दृष्टिकोण के विकास के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कुछ खास बिंदुओं की ओर इंगित करते हैं—सापेक्षता, समन्वय और सह-अस्तित्व को वे आधार-बिंदु मानते हैं। वैचारिक स्तर पर ये तीन बिंदु हर व्यक्ति के लिए आधार-भूमि बन जाएं तो अहिंसक समाज-निर्माण की दिशा में आने वाली अनेक बाधाएं निर्मूल हो सकती हैं।

अहिंसा और अनेकांत के मध्य अन्योन्याश्रित संबध हैं। अहिंसा हमारे व्यवहार का मुख्य पहलू बने—इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने दृष्टिकोण का विकास अनेकांत सिद्धांत के आधार पर करें। अनेकांत दृष्टि के विकास के लिए सापेक्षता, समन्वय और सह-अस्तित्व का विकास आवश्यक है। यह कैसे संभव हो?

हम मानते हैं कि कोई भी व्यक्ति पूर्णतः आवेग-मुक्त नहीं है। क्रोध, मान, माया और लोभ—प्रमुखतः ये ही वे आवेग हैं जो मनुष्य को विवेकशून्य बनाते हैं। अति साधारण व्यक्ति से लेकर राष्ट्रप्रमुख तक में ये विकार कमोबेश पाए जा सकते हैं। एक सामान्य व्यक्ति जहां स्वयं या अपने आस-पास को प्रभावित करता है, वहीं एक विशिष्ट व्यक्ति—या कहें राष्ट्रप्रमुख—यदि इन आवेगों पर नियंत्रण नहीं पा सके, तो उसका प्रभाव व्यापक स्तर पर देखा जाता है। प्रभाव सघन हो या न्यून, पर ये आवेग जब भी अनियंत्रित होते हैं तो दुष्परिणाम सामने आते ही हैं। इन आवेगों के रहते सापेक्षता, समन्वय और सह-अस्तित्व की आशा नहीं की जा सकती है। अतः जरूरी है कि व्यक्ति इन आवेगों से मुक्त हो।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आवेग-मुक्ति के लिए 'ध्यान' के प्रयोगों का सुझाव देते हैं। उनका मानना है कि ध्यान के प्रयोग से अहिंसा को जगा सकते हैं और हिंसा को सुला सकते हैं। वे कहते हैं—प्रकाश और अंधकार—दोनों हमारे भीतर हैं। दोनों का अस्तित्व है, प्रश्न है जगाने और सुलाने का। ध्यान के द्वारा हिंसा की जड़ को काटा जा सकता है। ध्यान के प्रसंग पर विस्तार में जाना यहां अपेक्षित नहीं, पर इतना समझ सकते हैं कि जो भी विरोधाभास हमें प्रतीत होते हैं, जो भी समस्याएं हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं—उनका समाधान ध्यान के माध्यम से पाया जा सकता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इसे व्यापक स्तर पर फैलाने के उपाय क्या हो सकते हैं? प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के साथ ध्यान को जोड़ा जाना चाहिए। यह कदम यदि आज ही उठता है तो आने वाले दशक में इसकी फलश्रुति दिखाई दे सकती है। विद्यालयों में, शिक्षण संस्थानों में ध्यान को शिक्षा-पाठ्यक्रम में अनिवार्यतः जोड़ा जाना चाहिए। इसके साथ ही एक बड़ा कदम यह भी होना चाहिए कि समाज के हर वर्ग में स्वैच्छिक स्तर पर सांगठनिक रूप से इसे फैलाया जाए। नीति-निर्धारकों, शासकों और कार्य-पालकों के मध्य ध्यान के प्रयोगों की उपयोगिता प्रदर्शित की जाए और उनके दैनंदिन जीवन का हिस्सा इसे बनाया जाए।

महावीर जयंती के प्रेरक प्रसंग पर इस बार संकल्पित और संगठित होकर कुछ ऐसा करना ही भगवान महावीर की स्मृति के प्रति श्रद्धानत होना कहा जा सकता है।

—शुभू पटवा

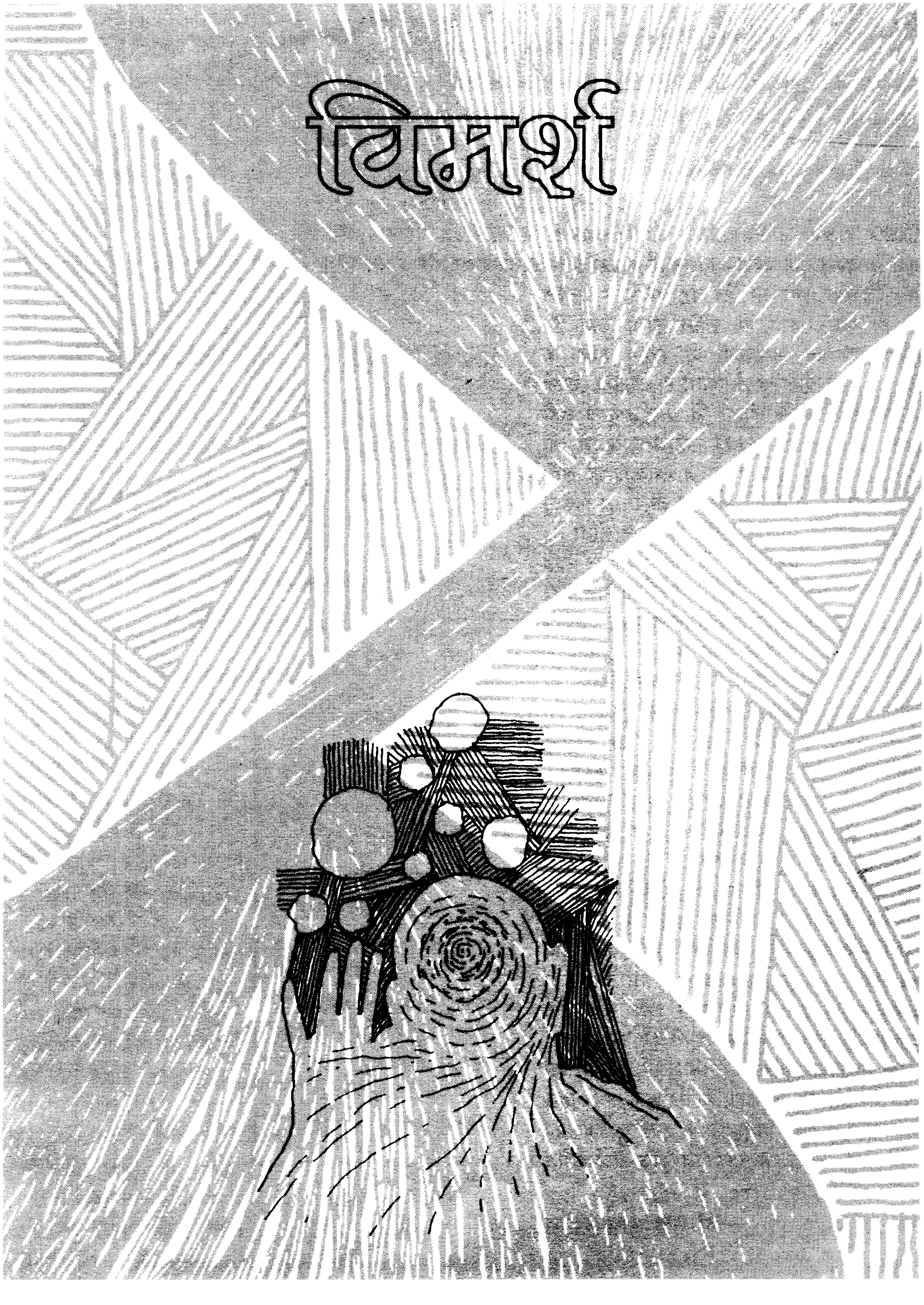
विमर्श

निर्वाण अथवा मुक्ति आत्मा की शून्यावस्था नहीं है, वरन् उस परम–आनंद में इसका प्रवेश है—जिसका अंत नहीं है। यह शरीर से वियोग तो है, किंतु सत्ता से रहित होना नहीं है। मुक्तात्मा सब मनोवेगों से रहित होने के कारण आचरणशून्य हो जाती है, उसका अपने अन्य साथियों के जीवन में कोई स्वार्थ नहीं रहता और न ही उनकी सहायता करने की रुचि रहती है। 'मुक्तात्मा न आकार में लंबी और न छोटी, न काली और न नीली, न कड़वी और न तीखी, न ठंडी और न गरम होती है। शरीर–रहित, पुनर्जन्म से भी रहित—वह देखती है, जानती है, किंतु उसका सादृश्य कुछ नहीं है, जिसके द्वारा हम मुक्तात्मा के स्वरूप को जान सकें; उसका सारतत्त्व भी आकृति–विहीन है; अनियंत्रित की कोई दशा हो सकती।' सिद्ध अवस्था संसार की शृंखला का न तो कारण है और न कार्य ही। यह नितांत अनियंत्रित है। मुक्तात्मा के ऊपर कारण–कार्यभाव का कोई वश नहीं है। 'ऐसा जानो कि एक साधारण दृष्टिकोण से पूर्ण श्रद्धा, ज्ञान एवं आचरण मुक्ति के कारण हैं, किंतु वस्तुतः मनुष्य की अपनी आत्मा इन तीनों से मुक्त है (मुक्ति का कारण है)।' मुक्तात्मा के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते और यथार्थ में न ही हम यह जानते हैं कि मुक्तात्मा अनेक हैं। पूर्णत की दशा को हम इस भाववाचक रूप से वर्णन करते हुए कह सकते हैं कि यह कर्म एवं कामना से मुक्त, नितांत एवं परम निश्चेष्टता की दशा है—एक ऐसा विश्राम है जिसमें न कोई परिवर्तन है और न जिसका अंत ही है—एक अनुरागहीन और वर्णनातीत शांति की दशा।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन्

अगर हम यह मानें कि मेरे किए का फल केवल मुझे ही मिलेगा, किसी अन्य को नहीं, तो मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि जो-कुछ भी सुख-दुख मुझे होता है उसका कारण केवल मैं ही हूं, कोई अन्य नहीं। और अगर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अन्य मेरे सुख-दुख का कारण है तो वास्तव में एक भ्रम है, जिसका मुझे निराकरण करना चाहिए। पर अगर ऐसा है तो मैं भी किसी 'अन्य' के सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो फिर धर्म के शुभ-अशुभ होने का आधार ही क्या रह जाएगा? हम सब एक-दूसरे के सुख-दुख के कारण नहीं होंगे, केवल निमित्त-मात्र होंगे। वास्तव में तो प्रत्येक का किया कर्म ही उस सबका कारण होगा जो वह भोगता है और भ्रम के कारण वह समझता है कि उसके सुख-दुख का कोई दूसरा कारण है।

❑ बौद्धिक परंपराएं और भविष्य

❑ प्रो. दयाकृष्ण

संस्कृति में जब शास्त्र की रचना होती है तब उसमें एक मूलभूत परिवर्तन आता है—तब बुद्धि उसके केंद्र में स्थापित होती है। बुद्धि सारे जगत को देखती है, उस जगत को देखती है जिसकी रचना मनुष्य ने की है। संस्कृति का एक स्तर मनुष्य की रचना का स्तर है। अनेकानेक क्षेत्रों में मनुष्य अपना कृतित्व करता है, लेकिन जब आत्मचिंतन में सब को देखता है तो वह सब विषय-रूप में उपस्थित होता है और जब उस पर चिंतन करता है तब उसके अलग-अलग क्षेत्रों का शास्त्र बनता है। इससे संस्कृति का एक नया स्तर, एक नया आयाम खुलता है और वह नई परंपरा को जन्म देता है, जो बौद्धिक परंपरा होती है। उसमें संस्कृति अपने को समझने की चेष्टा करती है, सतत रूप से समझती है और जिस प्रकार से मनुष्य की अपनी समझ है, आप जिसे अस्मिता कहते हैं, उस अस्मिता की खोज और संस्कृति की अस्मिता की खोज—दोनों जुड़ जाते हैं। संस्कृति की अस्मिता कभी समाप्त नहीं होती, वह एक चिरंतन प्रक्रिया है, जिसमें वह बनती रहती है, बदलती रहती है। उसी प्रकार मनुष्य चूंकि संस्कृति का अभिन्न अंग है, इसलिए उसकी अस्मिता बनती रहती है, बदलती रहती है, बढ़ती रहती है। वास्तव में संस्कृति की पहचान कोई ऐसी नहीं है जिसे आप एकदम पकड़ सकते हैं। वह कोई ऐसी भी नहीं है जो एकदम समाप्त हो जाती है। संस्कृति स्वयं अपने को खोजती है, जैसे मनुष्य अपने को खोजता है और यह प्रक्रिया काल में अनन्त है। परंतु अगर यह काल में अनंत है तो हमको परंपरा से जो प्राप्त होता है, उसके प्रति हमारा क्या उत्तरदायित्व है।

धर्म के प्रसंग को लेकर जैन भारती के पिछले अंक (मार्च, 2004) में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का विचारोत्तेजक लेख सुधी पाठकों ने पढ़ा। धर्म और अध्यात्म, धर्म और कर्म के साथ-साथ धर्म की कसौटियों आदि पर इस आलेख में सांगोपांग विवेचन हुआ।

इसी कड़ी में भारतीय दार्शनिक परंपराओं के प्रखर अध्येता और विवेचनाकार प्रो. दयाकृष्ण हमारी बौद्धिक परंपराओं और उनके भविष्य पर इस आलेख में बेबाक दृष्टिपात कर रहे हैं। हमारी संस्कृति, हमारी परंपरा का बौद्धिक विस्तार, हमारा पुरुषार्थ, हमारा धर्म और धर्म-संकट जैसे सवालों के साथ-साथ मनुष्य क्या है, समाज क्या है, राज्य क्या है—आदि बिंदुओं पर इस आलेख में तीव्र गहराई के साथ वैचारिक उत्तेजना का जो वातावरण निर्मित होता है—वह चिंतन के कई फलक खोल सकता है। देखें यह आलेख—

अपनी परंपरा का जो बौद्धिक विस्तार है उसके अनेकानेक आयाम हैं। उनमें जो-कुछ उपलब्धियां हैं, उनकी

चर्चा करना चाहता हूं। दूसरी बात कहना चाहता हूं, वह यह, कि उसमें कैसे परिवर्द्धन हो सकता है, उसे हम कैसे भिन्न दिशाओं में ले जा सकते हैं। ये दो भिन्न दिशाएं हैं—जिनमें से एक भूतकाल की ओर देखती है, और दूसरी आगे की ओर देखने की दृष्टि है। ये दो अलग-अलग सवाल हैं कि अब तक इस बात को कैसे समझा गया है और अब हमें इसे कैसे समझना चाहिए? ऐसा नहीं है कि पूर्व में इस प्रकार की बातें नहीं हुई हैं। गीता के जो रचयिता हैं, जिन्हें हम स्वयं भगवान के रूप में मानते हैं, उनका यज्ञ के बारे में चिंतन क्या वही है जो जैमिनी का या मीमांसकों का था। वेदों के बारे में जो गीता में कहा गया है, वह और भी कोई कह सकता है—'कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्, क्रियाविशेषबहुलाम् भोगैश्वरे गतिम्प्रति'—सब जानते हैं, मगर जानकर भी नजर-अंदाज करते हैं। लेकिन वही कृष्ण यज्ञ के बारे में कहते हैं कि यज्ञ का प्रारंभ यज्ञ की सृष्टि के साथ ही होता है। यज्ञ के अनेक आयाम हैं, कई दिशाएं हैं—जिन्हें परंपरा में खोजा गया है।

जब हम परंपरा पर दृष्टिपात करते हैं तो हम उसको इस प्रकार से देखते हैं जैसे मानो वह एक ही तरह की है और जैसे उसमें ढाई हजार साल से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, जबकि उसमें विशाल परिवर्तन हुए हैं। एक के बाद एक चिंतन आए हैं और उन्होंने उसमें परिवर्तन किए हैं। उन लोगों को कोई परेशानी नहीं होती थी—यह कहने में कि पहले जो कहा गया था—वह गलत है, उसे इस प्रकार से देखना चाहिए, पर आज हमें इसमें परेशानी क्यों होती है? हम भी उसी प्रकार के चिंतक क्यों नहीं बनते—जैसे हमारे पूर्वज थे? वास्तव में अगर हमें परंपरा को बढ़ाना है तो उसी प्रकार का व्यक्ति बनना पड़ेगा—जैसे हमारे पूर्वज थे। परंपरा के प्रति आदर, उसका ज्ञान और अपने में यह शक्ति महसूस करना कि हम इससे आगे जा सकते हैं, इसके नए आयाम खोल सकते हैं और दूसरों के लिए कुछ नया रास्ता दिखा सकते हैं।

अब सवाल है कि कहां से शुरू करें, किस प्रत्यय को लें? क्योंकि प्रत्ययों का एक जगत होता है, प्रत्ययों में एक परस्पर संबंध होता है। किसी एक प्रत्यय को, किसी एक विचार को उठाएं तो ऐसा नहीं होता कि उसके साथ अन्य विचार जुड़े नहीं होते। हमारी परंपरा में विचार का कितना वैभव है और इस वैभव में हम कितना और जोड़ सकते हैं?

मनुष्य क्या है? समाज क्या है? राज्य क्या है? आदमी ने इसके बारे में हमेशा सोचा है। बुद्धि सबको देखती है और यह भी पूछती है कि वह स्वयं क्या है, यह सोचने की प्रक्रिया क्या है? मनुष्य क्या है—जब इस पर लोगों ने सोचा तो क्या कहा? ग्रीस में मनुष्य की परिभाषा दो प्रकार से की गई थी। अरस्तु की परिभाषा को दो रूप में रखा गया है। एक यह कि मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है और दूसरा यह कि मनुष्य ऐसा प्राणी है, जिसके पास बुद्धि भी है। मैं इस बात को दूसरी तरह कहूंगा—उसके चिंतन के अनुसार मनुष्य बुद्धिनिष्ठ प्राणी है। इसलिए किसी भी संस्कृति को समझने के लिए उसके बौद्धिक केंद्र को देखना चाहिए। परंतु भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को इस प्रकार से नहीं देखा। फिर कैसे देखा? सबको पता है कि हमारे यहां मनुष्य का भेद अन्य प्राणियों से नहीं किया गया, धर्म के आधार पर किया गया—'धर्मोहि तेषामहि विशेषः अधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभि समाना'—धर्म के बारे में अनंत चिंतन हुआ है, लेकिन इस चिंतन का पहला सूत्र देखिए—धर्म वह है जो प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं जाना जा सकता, वह बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि बुद्धि का आधार प्रत्यक्ष या अनुमान ही होता है। अगर धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है, जो मनुष्य को सारे प्राणीमात्र से अलग करता है तो इसका ज्ञान कैसे हो—किं कर्तव्यम्—क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? क्या उचित है और क्या अनुचित है—इसका ज्ञान कैसे होता है? मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने कहा है कि यह ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से होता है। अगर ऐसा है तो तब हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य में कोई ऐसी शक्ति है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, जिसके द्वारा उसे धर्म का ज्ञान होता है। किंतु यह सब जैमिनी ने नहीं कहा, बल्कि जैमिनी ने तो यह कहा कि यह ज्ञान श्रुति से होता है।

अब प्रश्न है कि श्रुति क्या है? श्रुति अपौरुषेय है, श्रुति अनादि है। अगर हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म है और धर्म का कर्म से संबंध है तो हमारी दृष्टि कर्म-प्रधान बनती है। पर अगर हम अपने यहां की ज्ञान-केंद्रित परंपरा पर विचार करें तो लगेगा कि कर्म किसी बंधन का कारण है। इसलिए उसके अनुसार कर्म निष्काम होना चाहिए, तभी वह बंधन का कारण नहीं बनेगा। पर जिन लोगों ने यह कहा उन्होंने यह नहीं सोचा कि अगर यह मान भी लें कि निष्काम कर्म मेरे बंधन का कारण नहीं होता, तब भी यह कैसे निष्कर्ष निकलेगा कि वह 'अन्य' के बंधन का कारण नहीं बनेगा।

मनुष्य जब अपने को समझने की चेष्टा करता है तो अपने को विषय-रूप में पाता है—वह आत्मचेतन प्राणी है। विषय-रूप में देखने पर वह अपने को शरीर पाता है, मन पाता है, इंद्रियां पाता है। उसके सामने समस्या यह उत्पन्न होती है कि चेतना का विषय जो है, उसका चेतना से तादात्म्य नहीं हो सकता, परंतु वह अपने को उससे विलग भी नहीं मान सकता। शरीर मेरे लिए विषय-रूप है, लेकिन क्या मैं यह सोच सकता हूं कि यह शरीर मेरा नहीं है? संकल्प से शरीर संचालित होता है तो शरीर में हूं भी और नहीं भी हूं। इसी प्रकार से चेतना का एक स्तर बनता है, जहां व्यक्ति स्वयं विषय-रूप में उपस्थित होता है और उसके सामने यह समस्या उत्पन्न होती है कि जो विषय-रूप में उपस्थित है—वह एक प्रकार से तो वह स्वयं है, पर चूंकि वह उसे अपने से अलग 'विषय-रूप' में पाता है, इसलिए वह अपने को पूर्ण रूप में वैसा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। अब आप देखिए कि कैसी विडंबना है कि विचार कहां ले जाता है—एक ऐसे तादात्म्य की ओर ले जाता है, मनुष्य को एक ऐसे स्तर की ओर ले जाता है, जहां वह अपने को ऐसी स्थिति में पाता है कि मैं यह हूं और नहीं भी हूं। दो अंशों में वह है भी और नहीं भी है—एक आयाम वह है जिसके बारे में हमें शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से कहना पड़ता है कि वह है भी और नहीं भी। क्योंकि जो विषय-रूप में उपस्थित होता है, वही यह कहता है कि वास्तव में विषय-रूप नहीं है, कुछ और है। पर यह एक बिल्कुल शुद्ध बौद्धिक बात होते हुए भी हमारी अनुभूति का विषय भी होती है।

मैं जिस मनुष्य की खोज कर रहा हूं, परंपरा में उसका चिंतन हुआ है। जब मैं स्वयं उस पर चिंतन करता हूं, जानने की कोशिश करता हूं—तब मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं शरीर हूं और नहीं भी हूं। क्या शरीर वैसा है—जैसा इसे होना चाहिए? रोज हमारे मन में अनेकानेक विचार उठते हैं, इच्छाएं उठती हैं, वासनाएं उठती हैं। कई विचार अच्छे होते हैं, कुछ खराब भी होते हैं और ऐसा लगता है कि वह सब-कुछ सही है, जो मेरे मन में उठ रहा है—मैं ऐसा नहीं हो सकता, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार से जो अनेकानेक स्वर हैं, उनके बारे में मुझे दो अलग-अलग प्रकार की अनुभूति एक साथ होती दिखाई देती है—एक यह कि मैं हूं, नहीं भी हूं और दूसरी यह कि जैसा होना चाहिए—वैसा नहीं हूं। तब मैं क्या करूं? मेरे सामने दो प्रकार के कर्म, दो प्रकार के उत्तरदायित्व, भिन्न प्रकार की कर्तव्यताएं प्रकट होती हैं—एक यह है कि मैं इसे ऐसा बनाऊं जैसा इसे होना चाहिए और दूसरा यह कि मैं इससे तादात्म्य हटाऊं। मैं जो समझ रहा हूं कि यह मैं हूं, वास्तव में मैं इससे पूर्णरूपेण विलग हूं। यहां दो साधनाएं उपस्थित होती हैं—एक साधना यह है कि जो भी पूर्णरूपेण हमारे सामने उपस्थित होता है—उससे आप विलग हो, उससे तादात्म्य स्थापित न करें। यह सांख्य की साधना, कैवल्य की साधना है। दूसरी साधना वह है जो सांख्य ने नहीं सोची है, लेकिन जिसे वे सोच सकते थे। वह सब वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए और उसे वैसा होने के लिए मेरे संकल्प-कर्म की जरूरत है, इसीलिए मैं उसकी अपूर्णता के लिए स्वयं उत्तरदाई हूं। यही मेरा पुरुषार्थ है कि मैं अपने संकल्प और कर्म के द्वारा, जो भी विषय-रूप में उपस्थित होता है, उसको उसकी पूर्णता की ओर ले जाने में सहायक बनूं, बाधक नहीं।

पुरुषार्थ पर परंपरा में बहुत चिंतन हुआ है। क्योंकि पुरुष या मनुष्य को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक हम यह नहीं समझें कि उसका पुरुषार्थ क्या है? विचार कीजिए कि यह कैसी समस्या है? हमने मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म बताया था। लेकिन जब हम पुरुषार्थ की बात करते हैं तो केवल धर्म की ही बात नहीं करते, अर्थ और काम की भी बात करते हैं। पर अगर अर्थ और काम—मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण नहीं हैं तो फिर वे मनुष्य का पुरुषार्थ कैसे हो सकते हैं? यह कहा जा सकता है कि अर्थ और काम के बिना धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती, इसीलिए उन्हें पुरुषार्थ माना गया है। ऐसा स्वीकार करने पर भी अर्थ और काम केवल साधन रूप में ही स्वीकार होंगे, साध्य रूप में नहीं। लेकिन जब पुरुषार्थ की बात होती है तो साध्य की बात होती है, साधन की नहीं। इसलिए अर्थ और काम को पुरुषार्थ रूप में मानने पर उनको मनुष्यता का अनिवार्य अंग मानना पड़ेगा, केवल धर्म को ही नहीं।

क्योंकि मनुष्य तो व्यावर्तक लक्षण के रूप में धर्म मात्र है। अगर काम और अर्थ वास्तव में मनुष्य के मनुष्यत्व के लक्षण नहीं हैं तो ये उसके पशुत्व के लक्षण होंगे। फिर वे पुरुषार्थ के रूप में कैसे उपस्थित हो सकते हैं? पुरुषार्थ क्या है? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ठीक ही कहा गया है कि धर्मविरुद्ध अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं हैं। वह धर्म से अविरुद्ध होना चाहिए, परंतु वह फिर पुरुषार्थ कैसे हुआ? यह सवाल ही कभी नहीं उठाया गया। जैसे ही यह सवाल पूछेंगे तो चिंतन का एक नया आयाम पैदा होगा कि—नहीं,

में केवल धर्म मात्र नहीं हूं, मेरे में काम भी है—वह काम किसका है? काम मेरा तो हो नहीं सकता, फिर काम कहां से उत्पन्न हुआ? काम का दूसरा नाम है—मनसिज, जो मन में उत्पन्न होता है। अब सवाल है कि मन का व्यावर्तक लक्षण क्या है, मन का पुरुषार्थ क्या है, शरीर का पुरुषार्थ क्या है? शरीर को इंद्रिय रूप माना है, पर फिर उन इंद्रियों का पुरुषार्थ क्या होगा? इन सब में एक और भेद किया गया है—सूक्ष्म और स्थूल का। यह भेद सांख्य में भी किया गया है। जब इंद्रियों में भेद करते हैं, तब मन के अंदर ऐसा क्यों नहीं करते? मन में भी सूक्ष्म, स्थूल का भेद करना चाहिए। पर सवाल उठेगा कि सूक्ष्म मन क्या है और स्थूल बुद्धि क्या है? बुद्धि के संदर्भ में भी हमें यह भेद करना पड़ेगा और वहां भी यह सवाल उठेगा कि सूक्ष्म बुद्धि क्या है? इसके अलावा हमारे यहां सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वृत्ति का भी भेद किया गया है। यदि ऐसा है तो फिर हमें शरीर, मन, बुद्धि आदि के बारे में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक का भी भेद करना होगा और यह भेद स्थूल और सूक्ष्म—दोनों ही स्तर पर लागू होगा।

यह ठीक है कि शरीर, मन, बुद्धि आदि सब विषय-रूप में उपस्थित होते हैं और इसलिए मेरा उनसे तादात्म्य अविद्या या अज्ञान के कारण होता है। कारण कुछ भी हो, वास्तविकता यह है कि मैं अपने को ऐसा पाता हूं कि मैं शरीर हूं भी और नहीं भी। मन हूं भी और नहीं भी। बुद्धि हूं भी और नहीं भी। मेरी जो ऐसी अवस्था है, उसी के बारे में मुझे यह चिंतन करना है। अब प्रश्न है कि इसके बारे में चिंतन करना है तो कैसे करना है? इन सबके पुरुषार्थ को ढूंढ़ना है, इन सबके भेद पता लगाने हैं और यह पता करना है कि इसमें राजसिक, तामसिक और सात्त्विक का भेद क्या है? सात्त्विक बुद्धि कैसी होती है? गीता में इस विषय पर चर्चा की गई है, पर वहां जो सात्त्विक ज्ञान का लक्षण बताया गया है, वह वास्तव में सात्त्विक बुद्धि का लक्षण होना चाहिए था। सात्त्विक ज्ञान के बारे में गीता में कहा है कि यह ज्ञान वह है जो अनेक में एकत्व को देखता है, पर वास्तव में यह सात्त्विक बुद्धि का लक्षण मानना पड़ेगा कि वह अनेकता में एकता को देखती है और उस बुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है—उस ज्ञान को हम सात्त्विक ज्ञान कह सकते हैं। पर गीता के लिखने वाले ने इस बात को इस तरह से नहीं लिखा है, उसने तो सात्त्विक बुद्धि का अलग लक्षण दिया है और सात्त्विक ज्ञान का अलग, और दोनों के बीच कोई विशेष संबंध दिखाई नहीं देता। राजसिक बुद्धि को भेद-प्रधान माना गया है, जो भेद देखती है, पर फिर तामसिक बुद्धि क्या होगी? यहां हम देखते हैं कि परंपरा में जो ज्ञान की चर्चा हो रही है, वह कुछ डगमगाती है। क्योंकि उसके पास तीन ही कोटियां हैं। वह बेचारी क्या करे? अगर उसके पास तीन ही कोटियां हैं तो तीन से ही काम चलाना पड़ेगा। लेकिन हमें यह दिखता है कि इन तीन कोटियों से हमारा काम नहीं चलने वाला है, इसलिए कुछ और कोटियां बनानी पड़ेंगी, नए रूप में सोचना पड़ेगा। इस संदर्भ में यदि हम सांख्य के चिंतन को उसके असली रूप में अपनाने की चेष्टा करें तो विचार की एक ऐसी दिशा खुलेगी जो हमें चौंका देगी। क्योंकि उसके अनुसार शुद्ध सात्त्विक या शुद्ध राजसिक या शुद्ध तामसिक कुछ नहीं होता। ये एक ही प्रकृति के तीन पक्ष हैं और ये तीनों पक्ष निरंतर परिवर्तनशील हैं। अगर आज रजस् का प्राधान्य है तो कल तमस् का प्राधान्य होगा, फिर कल यदि तमस् का प्राधान्य है तो परसों सात्त्विक प्रकृति का प्राधान्य होगा। पर ऐसा मानने से हमें पुरुषार्थ-चिंतन के लिए नई परेशानी होगी और यह कि हम किसी भी स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करें, वह उस स्थिति में बहुत देर तक वैसी ही नहीं रहेगी। उसमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन आएगा। वह हमारे अपने हाथ की बात नहीं है, क्योंकि सांख्य के अनुसार प्रकृति का स्वभाव ही यह है। कल रजस् का प्राधान्य होगा, और परसों तमस् का। फिर क्या मैं ऐसा मानकर चलूं कि सत्, रज और तम के बारे में मेरी जो समझ है, उसमें मुझे परिवर्तन करना होगा?

रजस् और तमस् बुरे नहीं हैं, उनकी भी प्रकृति में उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जिसे हम 'सात्त्विक' कहते हैं उसकी। तीनों प्रत्येक वस्तु के अनिवार्य अंग हैं। अगर अनिवार्य अंग हैं तो फिर अच्छे-बुरे का सवाल कैसे पैदा होगा? पर फिर धर्म का क्या होगा? क्या है उसका औचित्य? धर्म के विचार से हम चले थे कि धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है। इसके साथ ही हमने शरीर, मन और बुद्धि के पुरुषार्थ की भी बात उठाई थी। यही नहीं, इनके स्थूल और सूक्ष्म रूपों की भी—इनमें सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदों की ओर भी इशारा किया। परंतु सांख्य के संदर्भ में इस भेद को समझने के प्रयास में हमें लगा कि अगर सांख्य की बात को स्वीकार कर लें तो पुरुषार्थ की बात ही खत्म हो जाएगी। ठीक उसी प्रकार—जिस प्रकार कि अगर हम मनुष्य को शरीर, मन और बुद्धि से बिल्कुल अलग मानें, क्योंकि वे सब 'विषय' रूप हैं।

इसलिए लगता है कि हमें परंपरागत विचार में कुछ मूलभूत परिवर्तन करना पड़ेगा—अगर हम मनुष्य के इन सारे आयामों को स्वीकार करना चाहते हैं और उनके भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ के ऊपर कोई सार्थक चिंतन करना चाहते हैं। परंपरा में धर्म और मोक्ष के अलावा अन्य पुरुषार्थों पर भी चिंतन हुआ है। उदाहरण के लिए महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण ने काम-गीता कही है और एक अन्य स्थान पर यह चर्चा है कि पुरुषार्थों में सबसे बड़ा पुरुषार्थ कौन-सा है? वहां केवल युधिष्ठिर या विदुर ही मोक्ष की बात करते हैं, बाकी तो सब अर्थ और काम को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। काम के बारे में एक और चिंतन भी भगवद्गीता में हुआ है, जहां निष्काम कर्म की चर्चा की गई है और यह बताने की कोशिश की गई है कि कर्म कैसे किया जाए ताकि वह बंधन का कारण न बने। तब पुरुषार्थ क्या है और कितने हैं और विभिन्न पुरुषार्थों के बीच क्या संबंध है? इन सबकी कहानी लंबी है और बड़ी भी।

यहां मैं बुद्धि के पुरुषार्थ की बात करना चाहूंगा, चूंकि उसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। हम सब अधिकतर बुद्धि-केंद्रित प्राणी हैं। बुद्धि को मैंने संस्कृति के केंद्र-बिंदु में रखकर कहा था कि बुद्धि शास्त्र की रचना करती है। लेकिन बुद्धि का स्वयं का पुरुषार्थ क्या है? उसके बारे में कोई चर्चा ही हमारी परंपरा में नहीं है। कहा गया है कि बुद्धि का काम विवेक करना है और वह नित्य और अनित्य का भेद करती है। लेकिन अनित्य का तो सबको पता है, पर जो नित्य है उसका किसी को पता नहीं। यदि ऐसा है तो इनमें विवेक कैसे किया जा सकता है? विवेक उन दो वस्तुओं में होता है—जिनके बारे में हमें पता होता है। विवेक में आप कहेंगे कि यह ऐसा है, वैसा है; लेकिन नित्य और अनित्य का विवेक कैसे हो सकता है? क्योंकि अनित्य का तो पता है और नित्य के बारे में केवल सोच सकते हैं। अगर सभी अनित्य हैं तो केवल अनित्यता ही 'नित्य' होगी। यह ठीक है कि हम सोच सकते हैं कि शायद इन सबसे अन्य कोई वस्तु हो जो नित्य हो, लेकिन वह केवल हमारा कल्पित विषय मात्र होगी—अनुभूत सत्य नहीं।

हालांकि कुछ लोगों ने यह कहने की चेष्टा की है कि चेतना—जो स्वयं इन अनित्य वस्तुओं का अनुभव करती है—वह नित्य है। पर जिस चेतना का हमें अनुभव है, उसमें तो सदा ही परिवर्तन होता रहता है और फिर मैं अचेतन अवस्था को भी प्राप्त होता हूं, जब मुझे कुछ पता नहीं होता और मैं यह कहता हूं कि तब मैं बेहोश था, मुझे कुछ पता नहीं था। इस पता नहीं होने को भी पता होना माना गया है और इसके आधार पर अद्वैत वेदांत ने अपने चिंतन की नींव रखी है। इसकी विस्तार से यहां चर्चा करने की जरूरत नहीं है। लेकिन बुद्धि के पुरुषार्थ का जो प्रश्न हमने उठाया था, उस पर थोड़ा और चिंतन करना चाहिए। बुद्धि का पुरुषार्थ अर्थ नहीं हो सकता, काम नहीं हो सकता, धर्म भी नहीं हो सकता और मोक्ष भी नहीं हो सकता। तो बुद्धि के बारे में किसी अन्य पुरुषार्थ की बात करनी होगी?

पुरुषार्थ हमेशा किसी का होता है और इसलिए यह अहं के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। जब 'अहंकार' शब्द का प्रयोग होता है तो वह लोगों में एक अजीब-सी चेतना उत्पन्न करता है कि कितनी बुरी चीज है—'अहंकार' नहीं होना चाहिए। लेकिन 'अहंकार' शब्द का यहां वह अर्थ नहीं है, बल्कि गहरा अर्थ है कि जब तक मैं मनुष्य हूं, जब तक आत्मचेतन प्राणी हूं—तब तक उसे जो-कुछ भी अनुभव होता है, उसके साथ यह लागू होता है कि यह मेरा अनुभव है—फिर यह सिद्धि किसकी हुई; मेरी हुई। यह ज्ञान किसे मिलेगा; मुझे मिलेगा। यह साधना किसकी है; यह मेरी है, पर यह कोई वैसा 'अहं' नहीं है जिसे हम दोषयुक्त मानते हैं। यह तो सहज स्वाभाविक 'अहं' है जो जब हमारी चेतना पर केंद्रित होता है तब भी लगा रहता है। क्योंकि जब चेतना दूसरे के हित के लिए हमेशा प्रयत्नशील होती है तब भी भावना यही होती है कि 'मैं' प्रयत्नशील हूं, मैं किसी 'दूसरे' का हित कर रहा हूं।

मैं किसी पश्चिमी परंपरा की चर्चा अधिक नहीं करना चाहता, लेकिन उसके बारे में जितना थोड़ा जानता हूं, वहां इस संबंध में जो सार्थक बात है—उसे उतना ही बताने की कोशिश करूंगा। उस परंपरा में 'अहं' के लिए 'आई' शब्द का प्रयोग किया जाता है। एक तरह से हम जो भी जानते हैं, महसूस करते हैं, संकल्प करते हैं—उसके साथ हमेशा I know, I feel, I will लगा रहता है। अगर यह सत्य है तो जब तक 'मैं' हूं, तब तक दूसरों से विलग हूं, अन्य पुरुषों से विलग हूं और इसलिए पुरुषार्थ की चर्चा में यह भी अनिवार्य रूप से आता है कि इन दूसरों से किस प्रकार का संबंध हो। दूसरे के प्रति जो उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है, वह बिल्कुल उस उत्तरदायित्व से भिन्न है जो मेरा अपने प्रति होता है। पर ऐसा क्यों है? क्योंकि वह चेतन है, इसलिए मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं उसे दुख न दूं। लेकिन कुछ दूसरी बातें भी उत्पन्न होती हैं कि मैं उसके पुरुषार्थ की साधना में सहायक बनूं। यहां जो नया पुरुषार्थ उत्पन्न होता है—क्या हमारी

परंपरा में इस पुरुषार्थ के बारे में सोचा गया है कि जब मैं देखता हूं कि मेरा पुरुषार्थ क्या है, दूसरे जो व्यक्ति हैं, जो विषय-रूप में उपस्थित हो रहे हैं, लेकिन वे स्वयं आत्मचेतन हैं—तो मुझे एकदम पता लगता है कि वह भी पुरुषार्थ के सिद्धांत की प्रक्रिया में संलग्न है, और मेरा यह धर्म है कि मैं इसमें उनकी सहायता करूं। यहां एक नया धर्म उत्पन्न होता है : मैं दूसरों की पुरुषार्थ-साधना में जितना सहयोग कर सकता हूं, उतना करूं। उसका 'प्रेय' पाने के लिए, और उसका 'श्रेय' पाने के लिए भी सहायता करूं। जैसे ही यह उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है—मेरी चेतना में एक परिवर्तन होता है, एक नए पुरुषार्थ का उदय होता है—उससे एक समाज की रचना होती है।

पर तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुषार्थ के विचार के संदर्भ में हम समाज के बारे में किस प्रकार सोचें? हमारे यहां समाज के बारे में बहुत चिंतन हुआ है। पर जब पुरुषार्थ की बात होती है, हम किस मनुष्य की बात करते हैं? उस मनुष्य की, जिसमें शरीर भी है, जिसमें बुद्धि भी है, जिसमें अहंकार भी है। और अगर हम कल्पना-शक्ति को मनुष्य का अनिवार्य अंग मानें, तो यह सवाल भी पैदा होगा कि उसका पुरुषार्थ क्या है? लोग कविता लिखते हैं, लोग उपन्यास लिखते हैं, लेकिन जो लोग नहीं भी लिखते हैं—उनमें भी कल्पना-शक्ति होती है। ज्ञान में भी कल्पना-शक्ति का एक अंश होता है। जो लोग विज्ञान के बारे में जानते हैं, उन्हें मालूम है कि आज के विज्ञान के मूल में एक 'कल्पना-शक्ति' काम करती है। उसकी प्रक्रिया कुछ इस प्रकार के सोचने से संबंधित है कि 'अगर ऐसा हो तो ऐसा होगा' और क्या-क्या हो सकता है। अगर हम यह मान लें कि उसके क्या नतीजे निकलेंगे, तो फिर देखें कि क्या वास्तव में वैसे नतीजे सामने आते हैं या नहीं। यह एक बड़ी अनंत संश्लिष्ट प्रक्रिया है आज के विज्ञान में, जिसकी मैं चर्चा नहीं करना चाहता। लेकिन मैं इतना जरूर बताना चाहता हूं कि खाली बुद्धि से काम नहीं चलेगा, खाली मन से भी काम नहीं चलेगा। मनुष्य के और भी आयाम हैं—उसमें दूसरी कई शक्तियां भी हैं, जिनकी चर्चा होनी चाहिए। उनके अलग-अलग पुरुषार्थ हैं। हमें देखना है कि इन पुरुषार्थों के बीच में संबंध क्या है? क्या कोई प्रज्ञा ऐसी है जो इन सब पुरुषार्थों को एक साथ देखती है, एक साथ बांटती है ताकि इनमें विरोध न हो?

पुरुषार्थ के विरोध की बात परंपरा में है। परंपरा में धर्म की बात ही नहीं, धर्म-संकट की बात भी है। सारा महाभारत धर्म-संकट में पड़ा हुआ है। इसी प्रसंग में एक बात याद आती है। जब संजय को धृतराष्ट्र ने यह कहने के लिए युधिष्ठिर के पास भेजा कि तुम तो सात्त्विक हो, इसलिए तुम्हें नहीं लड़ना चाहिए; दुर्योधन तो पापी है, उसकी बुद्धि तो कुबुद्धि है, वह इसलिए लड़ना चाहता है—क्योंकि वह लोभ में पड़ा हुआ है, उसे राज्य चाहिए। लेकिन आपको तो नहीं चाहिए, आप वनवास क्यों नहीं ले लेते, आप क्यों युद्ध करना चाहते हैं? उसके उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं—कुछ ऐसे संदर्भ होते हैं जब अधर्म ही धर्म होता है। ऐसे समय अधर्म धर्म हो जाता है। आप धर्म की परिभाषा के बारे में सोचिए। अगर महाभारत में युधिष्ठिर, जो धर्म के पुत्र समझे जाते हैं, धर्मराज कहलाते हैं, वही धर्मराज ऐसा कह रहे हैं कि कुछ ऐसी अवस्थाएं होती हैं जब धर्म करना अधर्म होता है और अधर्म करना धर्म हो जाता है। तो धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं कही जा सकती। अगर धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं हो सकती—तो वह संकट और भी गहरा है। क्योंकि पुरुषार्थ के संदर्भ में हमसे कहा गया था कि धर्म व्यावर्तक लक्षण है। अब हमें कहा जा रहा है कि धर्म को धर्म-संकट के बिना समझा ही नहीं जा सकता।

पर धर्म-संकट क्या है? धर्म-संकट को विचार का केंद्रबिंदु बनाइए। पर यह तो धर्मों में विरोध की बात करता है, जबकि हम पुरुषार्थों में विरोध की बात कर रहे थे। क्या पुरुषार्थों में विरोध नहीं है? धर्म और मोक्ष के विरोध के बारे में इतना चिंतन हमारे यहां हुआ है। कुछ संदर्भों में हमारे विचारकों ने कहा कि—नहीं, कोई अगर मुमुक्षु है तो राजा को उसे अमात्य नहीं बनाना चाहिए। और राजा के लिए क्या कहा गया है? क्या राजा को मुमुक्षु होना चाहिए? कम-से-कम शास्त्रों में तो यह लिखा है कि नहीं होना चाहिए। बल्कि साफ लिखा हुआ है कि उसे वन में नहीं जाना चाहिए, वानप्रस्थ नहीं लेना चाहिए। इतना ही नहीं—कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही नहीं—बल्कि अनेकानेक ग्रंथों में यह लिखा हुआ है कि जो व्यक्ति एक ही पुरुषार्थ का सेवन करता है या उसकी साधना करता है, अन्य पुरुषार्थों को नकारता है तो वह अपने को ही नष्ट नहीं करता, बल्कि दूसरों को भी नष्ट करता है। अगर हम पुरुषार्थ के रूप में केवल धर्म की ही साधना करते हैं या मोक्ष की ही साधना करते हैं, या काम की अथवा अर्थ की ही साधना करते हैं तो आप अपने को ही नष्ट नहीं करते, बल्कि दूसरों को भी नष्ट करते हैं।

अब सवाल है कि पुरुषार्थ का समन्वित रूप क्या है? समन्वित रूप में समझिए कि चारों उसके अंग मात्र हैं। उसे कैसे समझें? अगर ऐसा है तो धर्म और मोक्ष के बारे में इतना चिंतन क्यों है? उनमें विरोध होगा—ऐसा माना गया है। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते हैं, लेकिन कुछ मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या है—कौन-सी शक्ति है, कौन-सी प्रज्ञा है जो फैसला करती है कि इन पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या होना चाहिए। इन्हीं सब बातों के परिप्रेक्ष्य में हमें आज के संदर्भ में नया चिंतन करना चाहिए।

जब पुरुषार्थ की बात होती है, तो कर्म की बात होती है, संकल्प की बात होती है, स्वतंत्रता और स्वातंत्र्य की बात होती है कि मैं चयन कर सकता हूं, मुझे चयन करना चाहिए, मुझमें शक्ति है, बल है। लेकिन कर्म की जब बात करते हैं तो एक समस्या और उत्पन्न होती है—हमारे यहां कर्म पर बहुत विचार हुआ है। इतना विचार हुआ है कि जितना शायद किसी दूसरी सभ्यता या संस्कृति में नहीं हुआ। कर्म पर विचार दो दिशाओं में जाता है—पहली दिशा के बारे में सबको पता है कि कर्म का फल होता है। हम जो कर्म करते हैं वह बंधन का कारण होता है। कर्म का फल अवश्य मिलेगा—जैसा करोगे वैसा भोगोगे, उस से बच नहीं सकते। यह विचार हमें किस दिशा में ले जाता है? इस कर्म का स्वत्व क्या है? कर्म के दो पक्ष हैं—जिन पर चिंतन नहीं हुआ है। कर्म का स्वत्व क्या है? अगर मैं ही अपने किए कर्म का फल भोग सकता हूं तो वह कर्म मेरा होना चाहिए। अगर वह कर्म मेरा है तो 'मेरा' होने का अर्थ क्या है? जो अनेकानेक कर्म हैं उनमें स्वत्व का निर्णय बहुत कठिन है। क्योंकि बहुत-से कर्म तो ऐसे हैं, उन्हें कोई एक अकेला व्यक्ति कर ही नहीं सकता। हम सब मिलकर काम करते हैं और बहुत ही कम ऐसे काम हैं, जिन्हें कोई अकेला कर सकता है। इसलिए जो सामूहिक कर्म हैं, उनके स्वत्व का निर्णय कैसे किया जाएगा। सामूहिक कर्म से ही समाज और राज्य बनते हैं। उस सामूहिक कर्म का स्वत्व कैसा होगा, उसका फल कैसे बंटेगा? क्योंकि जो कर्म हम सबने मिलकर किया है, उसका फल किस आधार पर बंटेगा? यज्ञ में ऋत्विक काम करते हैं, ऋत्विक यज्ञ कराते हैं। यजमान संकल्प करता है, उनको धन से खरीदता है। इस संदर्भ में 'कीव' शब्द का प्रयोग ऋत्विकों के लिए किया गया है। उस यज्ञ का फल यजमान को मिलता है। कुछ यज्ञों में फल का एक भाग ऋत्विकों को भी मिलता है, पर साधारणतः ऐसा नहीं है। प्रश्न यह नहीं है कि लिखा क्या है, प्रश्न यह है कि अगर कोई कर्म सामूहिक है तो उसका फल भी सामूहिक होना चाहिए। कर्म का जो स्वत्व है, उस पर चिंतन बहुत कम हुआ है। हुआ हो तो मुझे जानकारी नहीं है। लेकिन जब तक इस पर चिंतन नहीं होगा, हम कर्म के चिंतन को आगे नहीं बढ़ा सकते।

अब इसका दूसरा पक्ष देखिए। यहां हमारे चिंतन ने एक अजीब दिशा ली है। वास्तव में अगर संसार धर्म की दृष्टि से ठीक होना है तो यह संसार ऐसा होना चाहिए कि मुझे किसी दूसरे के लिए कर्म का फल न भोगना पड़े, अन्यथा संसार में बड़ा अन्याय होगा। क्योंकि अगर कर्म कोई करता है और उसका फल किसी दूसरे को मिलता है तो उससे बड़ा अधर्म क्या होगा? अगर हम यह मानें कि मेरे किए का फल केवल मुझे ही मिलेगा, किसी अन्य को नहीं, तो मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि जो-कुछ भी सुख-दुख मुझे होता है उसका कारण केवल मैं ही हूं, कोई अन्य नहीं। और अगर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई अन्य मेरे सुख-दुख का कारण है तो वास्तव में एक भ्रम है, जिसका मुझे निराकरण करना चाहिए। पर अगर ऐसा है तो मैं भी किसी 'अन्य' के सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो फिर धर्म के शुभ-अशुभ होने का आधार ही क्या रह जाएगा? हम सब एक-दूसरे के सुख-दुख के कारण नहीं होंगे, केवल निमित्त-मात्र होंगे। वास्तव में तो प्रत्येक का किया कर्म ही उस सबका कारण होगा जो वह भोगता है और भ्रम के कारण वह समझता है कि उसके सुख-दुख का कोई दूसरा कारण है। आपने मुझे सुख दिया तो मुझे यह भ्रम होता है कि सुख आपके कारण से ही हुआ है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं अपने ही किए कर्मों का फल भोग रहा हूं। इससे एक नतीजा निकलता है कि अगर आप मेरे सुख-दुख का कारण नहीं हो सकते और इसलिए मुझमें यह भावना उत्पन्न होती है कि आप मेरे सुख-दुख का कारण हैं, तो कहीं मैं बहुत भारी गलती कर रहा हूं। लेकिन इससे एक और नतीजा भी निकलता है—मैं भी आपके सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता। पर अगर मैं आपके सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता तो जो उत्तरदायित्व मैंने महसूस किया कि मैं चेतन प्राणी हूं, स्वचेतन प्राणी हूं, तो मेरा धर्म है कि मैं आपको दुख न दूं—सुख दूं। या पुरुषार्थ की साधना में आपकी मदद करूं। लेकिन ऐसा हम कैसे मान सकते हैं कि मैं आपके लिए कुछ कर ही नहीं सकता? मुझे तो यह धर्म मिला था कि मैं आपके लिए कुछ करूं, मेरी चेतना परहित-

केंद्रित बने। लेकिन कर्म का सिद्धांत यह मानने पर मजबूर करता है कि यह तो भ्रम है कि मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूं या आप मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। हमने सोचा था कि संसार के बारे में ऐसा सोचें जिसमें अन्याय न हो।

कर्म पर इस विचार की प्रक्रिया ने मुझे कहां लाकर खड़ा कर दिया है? न मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकता हूं और न दूसरे मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। तो यह कैसा संसार बना! यह तो बहुत बेकार संसार है, जहां धर्म हो ही नहीं सकता। आपके कर्म की भावना ने, कर्म के चिंतन ने आपको ऐसी दशा में लाकर खड़ा कर दिया है—जहां समाज के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता।

परंतु कर्म का एक आयाम और भी है, जिसे हम अंग-अंगीभाव या अवयव-अवयवी भाव कह सकते हैं। यज्ञ के बारे में मीमांसा में इस पर चिंतन हुआ है। अगर आप सोचें तो यह चिंतन हमें एक अन्य दिशा में ले जाता है कि कर्म का जो अवयव-अवयवी भाव है, वह कैसे कर्म के लिए नए-नए क्षेत्रों को जन्म देता है?

अब, जरा देखिए कि हम किस परेशानी में पहुंच गए हैं, जो हमारे विचार ने हमारे लिए उत्पन्न की है। कर्म की भावना हमारे धर्म से जुड़ी हुई है। कर्म पुरुषार्थ से जुड़ा हुआ है और पुरुषार्थ स्वातंत्र्य से जुड़ा हुआ है। पर कर्म के बारे में जब हम सोचने बैठे तो ऐसे नतीजे पर पहुंचे जो किसी को स्वीकार नहीं हो सकता—मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सकता, आप मेरे लिए कुछ नहीं कर सकते। जब एक-दूसरे के लिए कोई कुछ नहीं कर सकता तो समाज और राज्य कैसे बनेगा? आपका जो सामाजिक चिंतक था, राजनीतिक चिंतक था, जिसकी कभी चर्चा ही नहीं होती है—उसने कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिंतन किया। उनका कहना था कि यह सोचने की दिशा ही गलत है। अगर हमें समाज को बनाना है, अगर हमें राज्य को ठीक करना है तो हमें कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिंतन करना होगा। इस बारे में उन्होंने क्या कहा है? एक ओर तो उन्होंने राज्य को, जो-कुछ भी समाज या राज्य में होता है, उसका मूल कारण माना। इस संदर्भ में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'राजाः कालस्य कारणम्'। पर 'राज्य' का अर्थ क्या है? राज्य का आशय उन सब व्यक्तियों से है जो राज्य-धर्म का परिपालन करते हैं या जिनके पास राज्य को चलाने का उत्तरदायित्व है। काल का अर्थ यहां समाज या संस्कृति की उस स्थिति से है जो किसी भी समय पाई जाती है। और इसलिए यह कहा जा रहा है कि समाज या संस्कृति की जो भी अवस्था है, उसके लिए वे लोग उत्तरदाई हैं जो उस राज्य की व्यवस्था को चलाते हैं या जिन पर उसको चलाने का उत्तरदायित्व है।

अब राज्य का कर्तव्य क्या है? जिसे अंग्रेजी में 'पोलिटिकल फंक्शन' कहते हैं। इस संदर्भ में हमारे यहां जो विचार हुआ है—उसमें कहा गया है कि प्रजा जो कर्म करती है, पाप-पुण्य करती है—उसका छठवां भाग या चौथाई भाग राजा को मिलता है। समाज की यह नई परिकल्पना है कि हम कुछ भी करते हैं वह राजा के अपना धर्म निभाने पर आश्रित है। या दूसरी तरह से कहें तो जो लोग 'पोलिटिकल फंक्शन' या राजकर्म करते हैं—उन पर समाज अपने कर्म के लिए आश्रित होता है। यह राजकर्म-केंद्रित विचार है, समाज को राज्य से विलग नहीं किया जा सकता। हमारे कर्म की स्थिति, हमारे पुरुषार्थ की स्थिति, हमारे पाप और पुण्य की स्थिति राज्य पर आश्रित है। अगर हम इस बात पर ध्यान दें तो इसमें परस्पर आश्रितता की भावना मिलती है। हम एक-दूसरे पर आश्रित नजर आते हैं। आपको आश्चर्य होगा कि पुरुषार्थ पर विचार के संदर्भ में अन्योन्याश्रितता की बात कही गई है। सब पुरुषार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं। परंतु यह बात पुरुषार्थों को एक अन्य दृष्टि से देखने पर उत्पन्न होती है। लेकिन जिन लोगों ने पुरुषार्थों को अन्योन्याश्रित माना, उन्होंने भी यह नहीं देखा कि मेरी पुरुषार्थ-साधना किसी अन्य के अपने पुरुषार्थ पालन पर निर्भर है और इसलिए उस पर आश्रित है। पर यह सवाल उठता है कि क्या इन सब अन्योन्याश्रितता का कोई मूल केंद्रबिंदु है? उसको हमारे विचारकों ने राज्य की सत्ता में केंद्रित माना था? अगर राज्य ठीक नहीं चलता तो हम अपने-अपने पुरुषार्थ का पालन नहीं कर सकते, हम धर्म का पालन नहीं कर सकते। धर्म के पालन के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है कि राजधर्म का पालन ठीक तरह से किया जाए—'राजाः कालस्य कारणम्'—और जो प्रजा है, प्रजा का जो पाप और पुण्य है—राजा उसका भागी है। कर्म के बारे में यह एक नया विचार है। यह कर्म उस प्रकार का नहीं है, जिसे हम कर्म का, कर्मफल का सिद्धांत कहते हैं। बल्कि यह एक समाज के बारे में चिंतन है जो अन्योन्याश्रित है। जहां एक का पुरुषार्थ दूसरे के पुरुषार्थ में सहायक होता है, बाधक नहीं—क्या इस विचार को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता?

❖

महावीर का दर्शन व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और संप्रेरणाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है और आज की अर्थव्यवस्था के लाभकारी प्रभावों को कम न करते हुए दुष्प्रभावों को कम कर सकता है। एडम स्मिथ ने भी कहा है—किसी राष्ट्र की संपत्ति का संवर्धन सोने, चांदी के इकट्ठा करने से नहीं, वरन् उसके श्रमिकों और उनकी योग्यताओं का उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग करने से होता है जो समुदाय के लिए उपयोगी हों। इस कथन में दो बातें अंतर्निहित हैं—उत्पादन की प्राथमिकताएं और आजीविका की 'गारंटी'।

महावीर का अर्थशास्त्र : विकास की अवधारणा

❑ माणकचंद सिंघी

व्यक्ति अथवा समुदाय का वर्तमान उपभोग तो उनकी अधिकारिता एवं उपलब्धता के अनुरूप ही होता है, किंतु उनकी आकांक्षाएं भविष्य की उपलब्धता एवं अधिकारिता और उनके नियोजन की सूचक होती हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति का स्वरूप उनके विकास की अवधारणा का पूर्वानुमान है। अगर ये आकांक्षाएं शेखचिल्ली की कल्पनाएं नहीं हैं, तो वे व्यक्ति अथवा समुदाय के सामर्थ्य और उसके विकास से जुड़ी हुई होती हैं। विकास की इस अवधारणा में आकस्मिकता अथवा नियति की एक सीमित भूमिका है।

निरंतर परिवर्तनशील विचारों के साथ-साथ व्यक्ति की मानसिकता में विकास की मूल अवधारणा को लेकर एक निश्चित ठहराव भी रहा है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार विकास व्यक्ति एवं समुदाय के जीवन की स्थिति में ऊर्ध्वारोहण है। यह ऊर्ध्वारोहण उसकी भौतिक सुख-समृद्धि एवं विचारों के विकास—दोनों से ही संभव है। भौतिक दृष्टि से विकास उत्पादन के संसाधनों के संवर्धन और सामर्थ्य की वृद्धि का पर्याय है। अर्थशास्त्रियों ने इस सामर्थ्य-संवर्धन के चार कारक बताए हैं—मानव संसाधनों का संवर्धन, मानवकृत संसाधनों का संवर्धन, (जिनमें पूंजी का संवर्धन एवं मशीन आदि शामिल हैं), प्राकृतिक संसाधनों की खोज (प्राकृतिक संसाधनों का अज्ञात से ज्ञात में आना ही संवर्धन का हेतु है) और तकनीकी सामर्थ्य का संवर्धन शामिल है। अर्थशास्त्र का यह पूर्ति की स्थिति का विश्लेषण है और इसमें वितरण एवं उत्पादन की प्राथमिकताएं यथास्थित मानी जाती हैं।

महावीर की अर्थशास्त्रीय दृष्टि का विश्लेषण करते हुए पिछले अंक में 'उपयोग का संयम' पर केंद्रित विचार आपने पढ़े और पाया कि दैनिक वस्तुओं के परिसीमन को महावीर ने न केवल प्राथमिकता प्रदान की, इनको गुणव्रतों व शिक्षाव्रतों में भी शामिल किया। लेखक ने महावीर के उपयोग संयम के दर्शन को आज के अर्थशास्त्र के संदर्भ में चार कसोटियों पर आंका। इसी कड़ी में श्री सिंघी का यह तीसरा आलेख—

विभिन्न विचारधाराओं वाले अर्थशास्त्रियों में भी उत्पादन के सामर्थ्य के संवर्धन की अवधारणा मान्य रही है। विकास की इस अवधारणा का नीतिशास्त्रों से भी कोई मतभेद नहीं है। प्राचीन ग्रीक, रोमन अथवा भारत के अर्थशास्त्रियों अथवा चिंतकों की विकास की अवधारणा इससे भिन्न रही हो—ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। निर्बाध विकास परिवर्तन का वह पथ है जिसमें संसाधनों के दोहन और संवर्धन, पूंजी निवेश, तकनीकी विकास और संस्थागत बदलाव मनुष्य की वर्तमान एवं भविष्य की इच्छाओं और आकांक्षाओं का समन्वय कर सके। विकास की इस अवधारणा के अनुसार पिछले 200 वर्षों में अर्थशास्त्रियों के विचारों में एक परिवर्तन का स्वरूप परिलक्षित होता है। विकास की अवधारणा के कुछ चरणों को इस प्रकार समझा जा सकता है।

विकास के चरण

वृद्धि	विकास	सामुदायिक विकास	निर्बाध विकास
		सम्मिलित कारक	
• कुशलता	• कुशलता	• कुशलता	• कुशलता
	• समानता	• समानता	• समानता
		• संसाधनों का उचित मूल्यांकन	• संसाधनों का उचित मूल्यांकन
			• संसाधनों की उपलब्धता का लेखा-जोखा
			• संसाधनों की निरंतर उपलब्धता

सर्वांगीण विकास के इस दृष्टिकोण में अर्थशास्त्र की पूर्ति का सिद्धांत-भर ही शामिल नहीं है, समानता और सामुदायिक विकास में उत्पादन की प्राथमिकताएं, वितरण, उपभोग का एक न्यूनतम स्तर और उत्पादन तथा उपभोग की वस्तुओं का मूल्य भी सम्मिलित हो जाता है। विकास के इस विस्तृत विवेचन में नीतिशास्त्र की भूमिका की अवहेलना नहीं की जा सकती। निर्बाध विकास—जिसमें वर्तमान एवं भविष्य की पीढ़ियों के उत्पादन-सामर्थ्य एवं उपभोग के समन्वय का चिंतन भी निहित है—पर्यावरण भी अनदेखा नहीं रहता।

सर्वांगीण विकास की आज की अर्थशास्त्रीय अवधारणा भगवान महावीर के सिद्धांतों की ओर लौटती-सी नजर आती है। उत्पादन की प्राथमिकताएं, प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपभोग का एक न्यूनतम स्तर और उपभोग की सीमा—इस विचारधारा की परिधि के बाहर नहीं होते।

अर्थशास्त्र के अब तक के इतिहास में आर्थिक रूप में संपन्न व्यक्ति, गरीब लोगों की तुलना में कम ही रहे हैं। यह स्थिति क्यों है अथवा क्यों होनी चाहिए और इसका विकास की प्रक्रिया से क्या संबंध है—अर्थशास्त्र के विचारणीय विषय रहे हैं। उत्पादन के प्राथमिक काल में जब इसका स्वरूप मुख्यतः पारिवारिक रहा था, मानवीय संसाधनों का संवर्धन विकास का प्रमुख घटक रहा। उत्पादन के इस काल में वितरण से ज्यादा विपणन और उत्पादन का उचित मूल्य एक प्रमुख मुद्दा था। ग्रीक चिंतकों—जिनमें अरस्तु शामिल है तथा चाणक्य आदि ने व्यापारी वर्ग के शोषण को इसीलिए अनुचित ठहराया था। उन्नीसवीं शताब्दी तक उत्पादन मुख्यतः विकेंद्रीकृत ही था और न तो कारखाने के आधार पर किसी शहर का उदय हुआ था और न ही कारखानों में रोजगार आजीविका का मुख्य स्रोत ही बनकर उभरा था।

अर्थशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्रियों के विकास की अवधारणाएं तो अपरिवर्तित ही रहीं, किंतु विकास के लिए अपनाए गए रास्ते काल एवं परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न थे। एडम स्मिथ का बाजार तंत्र, मार्क्स का वर्गरहित साम्यवाद, कींज का उपभोग बढ़ाने के लिए सामुदायिक प्रयत्न और आज का विश्व बाजार और भूगोलरहित पृथ्वी—इनका विकास क्रमशः व्यापारवाद, पूंजीवाद, भयंकर आर्थिक मंदी और नियंत्रणवादी प्रवृत्ति के दुष्प्रभावों से बचने के लिए ही विकसित हुआ था।

अर्थशास्त्र के इतिहास के अध्ययन से जो एक और बात उभरकर सामने आती है वो यह कि एकांगी दृष्टिकोण के कारण इन चिंतकों की भविष्यवाणियां निष्फल ही रहीं। स्थापित (क्लासिकल) अर्थशास्त्रियों का संसाधनों के दोहन से उत्पादन ह्रास का सिद्धांत, थामस माल्थस का जनसंख्या के उत्पादन के अनुपात में लगातार बढ़ने तथा उससे होने वाले दुष्काल, भुखमरी तथा महामारी, मार्क्स के साम्यवाद का पूंजीवाद के अपने बढ़ते बोझ से खत्म होने के बाद का उद्भव और कींज का विकास के बाद अर्थशास्त्रियों की भूमिका एक दंत चिकित्सक तक सीमित रह जाना आदि कोई भी भविष्यवाणी फलीभूत नहीं हुई।

दूसरी ओर महावीर का दर्शन और विचार एकांगी नहीं थे। उनका यह भी स्पष्ट मत था कि जागतिक नियमों में अधिनायकवाद नहीं है। उनके अनुसार कर्म, भाग्य, भाव, काल आदि—किसी की भी सत्ता ऐकांतिक नहीं है। कोई अकेला नियंता नहीं है, क्योंकि अगर ऐसा होता तो उस अधिनायक के चक्र को तोड़ना या उससे निकलना संभव ही नहीं होता। उनके इस अनेकांत के दृष्टिकोण ने विकास की अवधारणा में चाहे परिवर्तन न किए हों, विकास के मार्ग में विभिन्न रास्तों की अहमियत को स्वीकार किया था।

आधुनिक अर्थशास्त्र विकास की अवधारणा में पूर्ति के साथ मांग के समन्वय की बात को अनदेखा नहीं करता। चूंकि खुली प्रतियोगिता और व्यक्तिगत लाभ की अवस्था में विकसित राष्ट्रों में कृषिजनित पदार्थों का उत्पादन लगभग नगण्य रह जाता, इन सभी राष्ट्रों में विकासशील राष्ट्रों की

तुलना में कृषि में शासकीय सहायता सर्वाधिक रही है। यह एक तरह से उपभोग की न्यूनतम वस्तुओं के उत्पादन को बनाए रखने का ही एक प्रयोग है और खुले बाजारवाद में एक सामुदायिक अंकुश। हालांकि इस व्यवस्था का एक कारण संसाधनों की उचित मूल्य-प्रणाली का अभाव भी हो सकता है जो कृषि उत्पादों को अलाभकारी बना देती हो, फिर भी इसे कुछ विशिष्ट वस्तुओं की पूर्ति का प्रयास तो मानना ही होगा।

आज की अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी चुनौती है रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाना। इसके लिए न तो विकेंद्रीकृत प्राथमिक उत्पादन प्रवृत्ति की ओर लौटा जा सकता है और न ही मार्क्स के क्रांतिकारी साम्यवाद की ओर। ये दोनों ही व्यवस्थाएं वक्त के साथ बीत चुकी हैं और इन्हें किसी नए रंग के साथ परोसना संभव नहीं है। इन दोनों ही अवस्थाओं में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और संप्रेरणाओं का ध्यान रखना संभव नहीं होगा। पिछले 200 वर्षों के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और उचित संप्रेरणाओं के इस दौर ने विकास के नए आयाम खोले हैं और उत्पादन के सामर्थ्य के संवर्धन में विशेष योग दिया है। विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था संतोष तो दे सकती है, संवर्धन नहीं। इसी तरह साम्यवादी व्यवस्था में करुणा तो हो सकती है, विकास की संप्रेरणाएं नहीं। दोनों ही अवस्थाओं में निर्बाध विकास की संभावना नगण्य ही हो सकती है। हालांकि विकास के दौर में इनके प्रभाव को कम करके नहीं आंका जा सकता। पूंजीवादी व्यवस्था के कुछ परिवर्तन मार्क्स के विचारों के प्रभाव से ही हुए हैं।

महावीर का दर्शन व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और संप्रेरणाओं को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करता है और आज की अर्थव्यवस्था के लाभकारी प्रभावों को कम न करते हुए दुष्प्रभावों को कम कर सकता है। एडम स्मिथ ने भी कहा है—किसी राष्ट्र की संपत्ति का संवर्धन सोने, चांदी के इकट्ठा करने से नहीं, वरन् उसके श्रमिकों और उनकी योग्यताओं का उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग करने से होता है जो समुदाय के लिए उपयोगी हों। इस कथन में दो बातें अंतर्निहित हैं—उत्पादन की प्राथमिकताएं और आजीविका की 'गारंटी'।

विकास की किसी अवधारणा में यदि मांग के पक्ष को महत्त्व न दिया जाए तो विकास सामुदायिक नहीं रहता। औद्योगिक क्रांति के उद्भव और उसके विकास के प्रथम एवं द्वितीय चरण में कुशलता पर दिए गए अत्यधिक जोर के कारण विकसित देशों में भी श्रम का शोषण अपने चरम पर था। चूंकि वह समय 'कालोनियों' के शोषण का भी था, शोषित एवं शोषक वर्ग में खाई बढ़ती ही जा रही थी। आर्थिक वैषम्य अभी भी कम नहीं हुआ है, किंतु मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति और एक न्यूनतम उपभोग की विचारधारा के कारण इस वैषम्य की साम्यवादी क्रांतिकारी अपील का असर कुछ कम हो गया है।

महावीर के विकास की अवधारणा और आज के निर्बाध विकास में काफी समानताएं हैं। उपभोग के संयम, उत्पादन की प्राथमिकताएं और आज और भविष्य की पीढ़ियों के समन्वय को इस प्रक्रिया में जोड़ दिया जाए तो विकास की नई अवधारणा सर्वमान्य हो सकती है। किंतु अगर हर चीज को धन में बदल दिया जाए और धन का उपार्जन एवं उपभोग अपने-आप में एक संपूर्ण लक्ष्य बन जाए तो विकास पर ही प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

कुछ चिंतक अर्थशास्त्र को एक व्यवसाय मानते हैं और भविष्य की संभावित प्रगति, उसके लिए आवश्यक संस्थागत एवं नीतिगत ढांचा आदि को उस व्यवसाय के बुनियादी उपकरण। इस स्थिति में यदि वे वही कहें तो उनके नियोजक चाहें अथवा जो उनकी अपनी मानसिकता के अनुरूप हो, तो इसमें अर्थशास्त्र के सिद्धांतों की नहीं, व्यक्ति की अपनी कमजोरी ही कही जाएगी। जैसा कि गालब्रिथ कहते हैं कि अर्थशास्त्र इसलिए जीवित नहीं है कि अर्थशास्त्रियों ने बहुत अच्छा काम किया है अथवा सटीक भविष्यवाणियां की हैं, परंतु इसलिए कि इन भविष्यवाणियों में वे बहुधा गलत साबित हुए हैं। एकांगी दृष्टिकोण से अनेकांत इस दिशा में नया प्रयोग है।

❖

शिक्षित एवं स्वस्थ होना अपने-आप में ही बहुत मूल्यवान है। शिक्षा एवं स्वास्थ्य के संपन्न हो पाने का अवसर सहज ही व्यक्ति के स्वातंत्र्य को प्रभावी बना देता है।

—अमर्त्य सेन

जनतंत्र और एकतंत्र का समन्वित प्रतीक है मर्यादा-पत्र—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

इस परंपरा में मृदुता है, करुणा है और कदाचित् कठोरता भी—युवाचार्यश्री महाश्रमण

नीड़ का निर्माण, पर पंखों पर प्रतिबंध नहीं—साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा

तेरापंथ धर्मसंघ का 140वां मर्यादा महोत्सव महाराष्ट्र प्रदेश के जलगांव नगर में श्रद्धा और उत्साह के साथ संपन्न हुआ। 26, 27, 28 जनवरी, 2004 को संपन्न हुए तीन दिवसीय कार्यक्रमों की शृंखला में माघ शुक्ला सप्तमी (28 जनवरी, 2004) को मुख्य कार्यक्रम संपन्न हुआ। तेरापंथ के सर्वाधिक महत्त्व के इस वार्षिक समारोह की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि हर साल होने वाले इस 'मर्यादा महोत्सव' की प्रतीक्षा चतुर्विध संघ के मन में समारोह संपन्न होने के साथ ही पुनः शुरू हो जाती है। यही कारण है कि 140 वर्षों से निरंतर हो रहे इस पारंपरिक समारोह में आगंतुकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है और हर साल समारोह में लोगों को नवीनता ही दिखाई देती है। यही कारण रहा कि जलगांव के 140वें मर्यादा महोत्सव में भी देश-भर से भारी संख्या में जनसमूह एकत्र हुआ।

जलगांव में संपन्न 140वां मर्यादा महोत्सव

मुख्य समारोह का शुभारंभ मंत्रोच्चार के बाद आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ओर से उस मर्यादा-पत्र की प्रतिष्ठापना के साथ हुआ, जिसे विक्रम संवत् 1859 (सन् 1802) में आदिगुरु आचार्यश्री भिक्षु ने अपने हाथों लिखा था। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इस मर्यादा-पत्र का वाचन किया और जनसमूह से खचाखच भरे 'अनुशासन समवसरण' के चारों ओर पंक्तिबद्ध खड़े साधु-साध्वियों, समण-समणियों ने भी पूरे मर्यादा-पत्र को अपने स्वरों से दोहराते हुए 'मर्यादा और अनुशासन' में रहने की अपनी शाश्वत निष्ठा को पुनः अभिव्यक्त किया। तेरापंथ की अपनी शब्दावली में इसे 'हाजरी' कहा जाता है। 'हाजरी' का यह दृश्य समूची जनमेदिनी को एक ओर मर्यादा और अनुशासन के प्रति उत्प्रेरित कर रहा था, तो दूसरी ओर श्वेत धवल पंक्ति के घेरे के बीच आया समूचा जनसमूह जैसे पूर्ण सुरक्षा का एहसास कर रहा-सा लग रहा था। पहली बार इस दृश्य को देखने वाले लोगों को तो एक नया ही रोमांचक अनुभव होता है, जबकि हर व्यक्ति इस दृश्य को बार-बार देखने के लिए उत्कंठित रहता है।

मर्यादा-पत्र की सामुहिक वाचना के साथ ही आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसके महत्त्व पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि—'यह शाश्वत पत्र है, प्रत्येक अक्षर अमिट है, शाश्वत है। इसका एक भी अक्षर क्षर नहीं होता।' उन्होंने कहा—'यह मर्यादा-पत्र जनतंत्र और एकतंत्र का समन्वित प्रतीक है। आचार्य भिक्षु के हाथ से लिखा यह मर्यादा-पत्र गण के लिए छत्र है।' इसके साथ ही अवसर-विशेष पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा रचित 'मर्यादा गीत' का सस्वर संगान हुआ जो समेकित स्वर और समूह-गान में बदल गया।

अपने उद्बोधन में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा कि संयम और व्रत का जीवन में बहुत बड़ा मूल्य है। इनके बिना धर्म की आराधना नहीं हो सकती। आचार्य भिक्षु ने इसके साथ ही इस सचाई को भी बहुत गहराई से समझा कि शासन के साथ अनुशासन की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। शासन वही कर सकता है जो स्वयं पर अनुशासन कर सके। उन्होंने माना कि शासन के बिना शिक्षा संभव नहीं होती, अतः शासन की अपेक्षा सदैव रहती है।

आचार्यवर ने अपने प्रवचन में एकतंत्र व जनतंत्र की भावनाओं को भी स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि **नेतृत्व की आवाज दबना और जनता की आवाज को दबाना**—दोनों ही अच्छे नहीं होते। आज हम देखते हैं कि समाज में स्थितियां भिन्न हैं, इसका कारण शासन और अनुशासन का लोप होने में है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मर्यादा लेख-पत्र के साथ ही पांच संकल्प लेने का आह्वान भी किया और युवाचार्य महाश्रमणजी की ओर संकेत किया कि वे पांचों संकल्प, जो 26 जनवरी (मर्यादा महोत्सव के प्रथम दिन) को भी बताए गए थे, फिर से बताएं।

शेष पृष्ठ 29 पर

अनुभूति

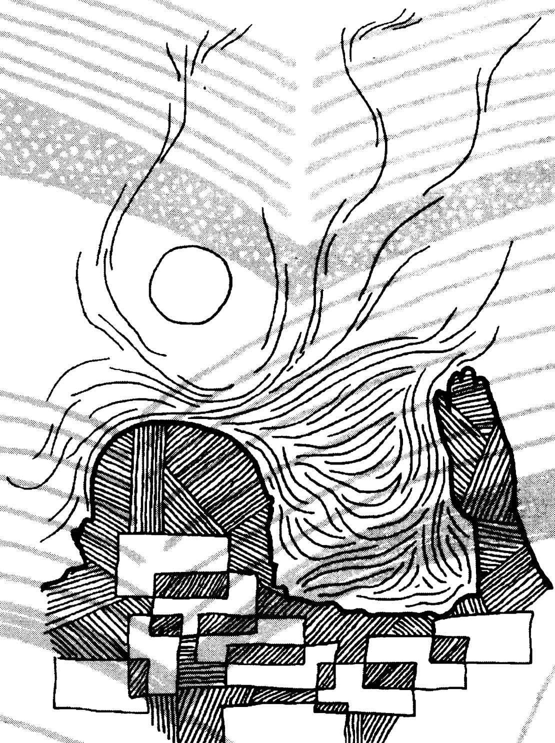

'परोक्षप्रियाः खलु देवाः।'

देवों को परोक्ष व्यवहार ही प्रिय है।

हम सब मनुष्य, देवों की यह लाक्षणिकता धारण करते होते हैं। दिन-भर हम प्रत्यक्ष दूसरों के आगे जो शब्द बोलते हैं, उनकी अपेक्षा कई गुना शब्द मन में और स्वप्न में हम परोक्ष रूप से बोलते रहते हैं। चुपचाप बैठे हों और किसी की दृष्टि अकारण आपके ऊपर पड़े, तो शहद के छत्ते पर जैसे कंकड़ मारा हो, वैसे मधुमक्खी की तरह शब्दों का एक पूरा टोला मन में गुनगुन कर गूंजने लगता है। अच्छा है, स्वप्न में हमें कुछ भी करना नहीं होता, हमारा बिल्कुल परोक्ष व्यवहार-सा होता है। फिर भी सबके साथ, एक तरह से, प्रत्यक्ष बातें करने की चाह रहती है। वृक्ष, पक्षी, पत्थर बोलते सुनाई देंगे—हर किसी को। हम पुस्तकें पढ़ते हैं, तब दूसरों की आवाज परोक्ष रूप से सुनते हैं और कुछ लिखते हैं—तब अपनी आवाज सुनाते हैं। लेकिन इन दोनों परोक्ष क्रियाओं में मौजूद देवत्व की अपेक्षा तो प्रत्यक्ष बात कर मनुष्य होना अच्छा है।

—उमाशंकर जोशी

धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है, किंतु वही धर्म—जिसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है। विषय-वासना, धन और सत्ता से जुड़ा हुआ धर्म संहारक विष की भांति खतरनाक होता है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और हिंसापूर्ण उपासनाएं करने वाला अधर्म को प्रोत्साहन देता है।

चरित्रहीन व्यक्ति को संप्रदाय और वेश त्राण नहीं देते। धर्म और धर्म-संस्था एक नहीं हैं। भाषा का पांडित्य और विद्याओं का अनुशासन मन को शांत नहीं कर सकता। मन की शांति का एक ही साधन है—धर्म।

❑ भगवान महावीर : जीवन और सिद्धांत

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ

महावीर जयंती पर विशेष

ढाई हजार वर्ष पुराना भारत दो राजनीतिक प्रणालियों में बंटा हुआ था। मगध, अंग, बंग, कलिंग, वत्स, अवंती, उत्तरी कौशल आदि राज्य राजतंत्र की प्रणाली से शासित थे। वैशाली में लिच्छवि, कपिलवस्तु में शाक्य, कुशीनारा और पावा में मल्ल गणराज्य था। वहां की जनता गणतंत्रीय शासन-प्रणाली से शासित थी। राजतंत्र की प्रणाली में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। गणतंत्र की प्रणाली में शासक मात्र मानव समझा जाता था। महावीर वैशाली गणतंत्र के शासक-सदस्य श्री सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनकी माता का नाम त्रिशला था। क्षत्रियकुंडग्राम वैशाली का उपनगर था। उस पुण्यभूमि में महावीर ने जन्म लिया था। ईस्वी पूर्व 599, 30 मार्च (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी) को उनका जन्म हुआ था। उनका शैशव कैसा था, यौवन कैसा था—इस विषय में बहुत कम जानकारी मिलती है।

महावीर जीवन के अट्ठाईस वर्ष पूर्ण कर रहे थे, तभी उनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गए। उन्होंने श्रमण होने की भावना प्रकट की। उनके चाचा सुपार्श्व और बड़े भाई नंदिवर्धन ने कुछ वर्षों तक घर में रहने का आग्रह किया। महावीर की विनम्रता उसे अस्वीकार नहीं कर सकी, पर उनका संकल्प गृहवास को स्वीकार नहीं कर सका। इसी अंतर्द्वंद्व ने एक नए मार्ग की खोज की। शायद यहीं उन्होंने यह सूत्र निर्मित किया होगा—जिसकी वासना नहीं छूटी और श्रमण हो गया—वह घर में नहीं है, पर घर से दूर भी नहीं है। वासना से मुक्त होकर घर में रहते हुए भी घर से दूर रहा जा सकता है। वे दो वर्ष तक घर में रहते हुए घर से दूर रहे। इस अवधि में उन्होंने विदेह-साधना की। वे परिवार में रहकर भी एकांत में रहे। जिसकी शरीर में आसक्ति नहीं रहती, वह समुदाय में रहकर भी अकेला रह सकता है। उन्होंने अस्वाद का विशिष्ट अभ्यास किया। जिसे देहातीत अवस्था में रस का अनुभव हो जाता है, उसे अस्वाद की उपलब्धि करने में कठिनाई नहीं होती। वे मौन और ध्यान में लीन रहे। जिसके लिए बाह्य जगत में अभिव्यक्त होने का प्रयोजन शेष नहीं रहता, उसकी वाणी मौन हो जाती है, विकल्प शून्य हो जाते हैं।

इन दो वर्षों की साधना से उनके श्रामण्य की पृष्ठभूमि पहले से कहीं अधिक सुदृढ़ हो गई। उन्होंने अनुभव किया—घर में रहते हुए घर से दूर रहना संभव हो सकता है, पर यह सामुदायिक मार्ग नहीं है। यह कुछ लोगों का मार्ग है। सामुदायिक मार्ग तो यही हो सकता है कि घर की वासना को छोड़ना और साथ-साथ घर को भी छोड़ देना। सबके कल्याण की बात सोचने वाला सामुदायिक मार्ग पर चलता है। महावीर ने घर छोड़ने के लिए अंततः परिवार की अनुमति प्राप्त कर ली। घर से अभिनिष्क्रमण कर वे क्षत्रियकुंडग्राम के बाहर उद्यान में आ गए। उन्होंने जनता के समक्ष स्वयं ही श्रमण दीक्षा स्वीकार की और आजीवन समता के पथ पर चल पड़े।

साधना के बारह वर्ष

भगवान महावीर की साधना का पहला चरण इस संकल्प के साथ उठा—आज से मैं विदेह रहूंगा, देह की

सुरक्षा नहीं करूंगा। सर्दी-गर्मी के परीषहों को झेलूंगा। जो भी कष्ट आए, उसे सहन करूंगा। रोग की चिकित्सा नहीं कराऊंगा। भूख और प्यास की बाधा से प्रभावित नहीं होऊंगा। नींद पर विजय प्राप्त करूंगा।

भगवान महावीर ने अनुभव किया—अभय के सधे बिना समता नहीं सध सकती और विदेह के सधे बिना अभय नहीं सध सकता। मानवीय दुर्बलताओं का मूल स्रोत भय है। मानव की महान शक्ति के विकास का मूल स्रोत अभय है। भय का आदि बिंदु है—देह की आसक्ति। उसकी आसक्ति को छोड़ना, विदेह होना—अभय-सिद्धि की अनिवार्य शर्त है।

भगवान महावीर जैसे-जैसे विदेह की साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी अहिंसा, मैत्री और शांति की शिखा अधिकाधिक प्रज्वलित होती चली गई। हिंसा, वैर और अशांति—ये सब देह में होते हैं, विदेह में नहीं होते।

विष से निर्विष

महावीर कनखल आश्रम के पार्श्ववर्ती देवालय के मंडप में ध्यान कर रहे थे। चंडकौशिक सर्प ने दृष्टि से विष का विकिरण किया। भगवान पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब वह फुफकारता हुआ भगवान के पैरों में लिपट कर बार-बार उन्हें डसने लगा, पर भगवान की आंखों से निरंतर अमृत की धारा बहती रही। उनका मैत्रीभाव विष को निर्विष करता रहा और अंततः अहिंसा की हिंसा पर विजय हुई। सर्प का क्रोध शांत हो गया। उसने भी सदा के लिए अहिंसा का वरण कर लिया।

महावीर जैसे-जैसे साधना में आगे बढ़े, वैसे-वैसे उनकी चेतना में समता का सूर्य अधिकाधिक आलोक देने लगा। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—सभी उस आलोक से आलोकित हो उठे।

सबसे बड़ी सुरक्षा : अध्यात्म पथ

महावीर ध्यान कर रहे थे। एक ग्वाला आया। उसके साथ में बैल थे। उन्हें वहां चरने के लिए छोड़ वह घर चला गया। कुछ समय बाद लौटकर देखा कि बैल वहां नहीं हैं। वह क्रुद्ध हो गया। बैलों को खोजने इधर-उधर घूमने लगा। थोड़ी देर बाद फिर वहीं पहुंचा, जहां महावीर ध्यान कर रहे थे। बैलों को महावीर के आस-पास देखकर वह स्तब्ध रह गया। 'यह श्रमण बैलों को हथियाना चाहता है'—इस संदेह ने ग्वाले का क्रोध प्रज्वलित कर दिया। वह रस्सी को आकाश में उछालता हुआ महावीर पर प्रहार करने को आगे बढ़ा, इतने में नंदिवर्धन वहां आ पहुंचे। उन्होंने ग्वाले को समझा-बुझाकर शांत कर दिया। नंदिवर्धन ने महावीर की सुरक्षा की व्यवस्था करनी चाही। महावीर ने उसे अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा—'जो अपने-आप को असुरक्षित अनुभव करता है, वह अध्यात्म के पथ पर नहीं चल सकता। अध्यात्म के पथ पर चलने वाला अपने-आप को सदा सुरक्षित ही अनुभव करता है। मुझे किसी सुरक्षा की अपेक्षा नहीं है। स्वतंत्रता और स्वावलंबन ही मेरी सुरक्षा है।'

ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन

महावीर ध्यान की मुद्रा में खड़े थे। कुछ युवतियों ने आकर सहवास के लिए प्रार्थना की। भगवान ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। युवतियों ने अपने मायाजाल में फंसाने की अनेक चेष्टाएं कीं, पर चैतन्य-केंद्र की ओर बहने वाली उनकी ऊर्जा का एक कण भी काम-केंद्र की ओर प्रवाहित नहीं हुआ। ध्यान की धारा अविच्छिन्न चलती रही। युवतियां जिस दिशा से आई थीं, हारकर उसी दिशा को लौट गईं।

वीतराग भूमिका

भगवान महावीर की साधना का मूलमंत्र है—समता। न राग और न द्वेष—चेतना की यह अनुभव-दशा समता है। भगवान ने अनुभव किया कि दुख का मूल-बीज है—कर्म, और कर्म का मूल बीज है—राग-द्वेष। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—ये राग-द्वेष के ही परिणाम हैं। राग-द्वेष होने पर ही ये सब होते हैं, उनके न होने पर ये भी नहीं होते। भगवान ने साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में केवल 350 दिन भोजन किया। शेष समय उपवास में ही बीता। उन्होंने छह मास तक लगातार उपवास किया। भगवान ने समूचे साधनाकाल में कुल मिलाकर अड़तालीस मिनट से अधिक नींद नहीं ली। सर्दी-गर्मी से बचने के लिए भगवान ने कोई भी वस्त्र नहीं ओढ़ा। कष्ट आने पर वे किसी की शरण में नहीं गए। चींटियों ने सताया, जंगली मच्छरों ने काटा, अग्नि से पैर झुलस गए, पर भगवान ने वैसा अनुभव किया कि जैसे कुछ हुआ ही न हो। लाभ-अलाभ, सुख-दुख, निंदा-अनिंदा, मान-अपमान, जीवन-मरण के अनगिन प्रसंगों और घटनाओं ने भगवान की समता को कसौटी पर कसा, पर हर कसौटी में वे खरे उतरे। उनकी विदेह-साधना सिद्ध हो गई। उनकी अभय-साधना सिद्ध हो गई। उनकी समता की साधना सिद्ध हो गई। वे वीतराग की

भूमिका में केवली हो गए। परोक्ष ज्ञान का लोहावरण टूट गया। उनकी चेतना अनावृत हो गई। उन्हें ज्ञान के माध्यमों की अपेक्षा नहीं रही। इंद्रिय, मन और बुद्धि की उपयोगिता समाप्त हो गई। उनके लिए सब-कुछ प्रत्यक्ष हो गया। साधनाकाल में भगवान प्रायः मौन, अकर्म और ध्यानस्थ ही रहे। साधना की सिद्धि होने पर उन्होंने सत्य की व्याख्या की और व्याख्या का माध्यम जन-भाषा को बनाया। उनके उपदेश आज भी उस समय की जनभाषा—प्राकृत में मिलते हैं।

सत्य : धर्म-समन्वय

ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी सत्य की उपलब्धियों की शताब्दी है। उस शताब्दी में भारतीय क्षितिज पर महावीर और बुद्ध, चीनी क्षितिज पर लाओत्से और कंफ्यूशियस, यूनानी क्षितिज पर पाइथेगोरस जैसे महान धर्मवेत्ता हुए, जो सत्य के रहस्यों का उद्घाटन कर रहे थे। वे सभी अपनी-अपनी भौगोलिक सीमा में आबद्ध थे और उनका प्रतिपादन इस तथ्य की घोषणा है कि सत्य शाश्वत है, वह देश और काल से व्यवच्छिन्न नहीं है।

ईस्वी पूर्व नवीं शताब्दी में जैन धर्म के महान तीर्थंकर भगवान पार्श्व हो चुके थे। उनका धर्मशासन सत्य का सापेक्ष उद्घोष कर रहा था। उस समय उपनिषद् लिखे जा रहे थे। औपनिषदिक ऋषि नेति-नेति के द्वारा सत्य की व्याख्या कर रहे थे। महावीर के समय तक उसकी पुनरावृत्ति हो रही थी। बुद्ध ने कहा—'सत्य अव्याकृत है।' लाओत्से ने कहा—'सत्य कहा नहीं जा सकता।' महावीर ने कहा—'सत्य नहीं कहा जा सकता, यह जितना वास्तविक है—उतना ही वास्तविक यह है कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य कहा जा सकता है—इसका स्वीकार यदि अवास्तविक है तो सत्य नहीं कहा जा सकता—इसका स्वीकार भी वास्तविक नहीं है। वास्तविकता इन दोनों के समन्वय से प्राप्त होती है। विरोधी प्रतीत होने वाले धर्मों का एक साथ होना समन्वय है। वस्तु-जगत में पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोध की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मौत, शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते हैं।'

सापेक्षबोध ही सम्यक् ज्ञान

महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने एक बार पूछा—

'भंते! सत्य क्या है?'

'वह बताया नहीं जा सकता।' महावीर का उत्तर था।

'तो हम उसे कैसे जानें?'

महावीर ने कहा—'तुम स्वयं उसे खोजो।'

'उसकी खोज कैसे करें?' शिष्य गौतम ने फिर प्रश्न किया।

'कर्म को छोड़ दो—मन को विकल्पों से मत भरो, मौन रहो, शरीर को स्थिर रखो।' महावीर ने समाधान दे दिया।

तब फिर सवाल हुआ—'भंते! फिर जीवन कैसे चलेगा?'

'संयत कर्म करो—बोलना आवश्यक हो तो संयम से बोलो। चलना आवश्यक हो तो संयम से चलो और खाना आवश्यक हो तब संयम से खाओ। सब-कुछ संयम से करो'—महावीर ने कहा।

'भंते! सत्य की खोज का मार्ग बताया जा सकता है, तब सत्य क्यों नहीं बताया जा सकता?' फिर जिज्ञासा रखी गई।

महावीर ने कहा—'ये सत्यांश हैं। सत्यांश बताया जा सकता है। मैं सत्य का सापेक्ष प्रतिपादन करता हूं। पूर्ण सत्य नहीं बताया जा सकता। इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्यांश बताया जा सकता है, इसलिए मैं कहता हूं कि सत्य कहा जा सकता है। सत्य अवक्तव्य और सत्य वक्तव्य है—इन दोनों का सापेक्ष बोध ही सम्यक् ज्ञान है।'

शाश्वत-अशाश्वत का समन्वय—सत्य

'भंते! वक्तव्य सत्य क्या है?'

'अभेद की दृष्टि से अस्तित्व (होना मात्र) सत्य है और भेद की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय सत्य है। द्रव्य शाश्वत है। पर्याय अशाश्वत है। शाश्वत और अशाश्वत का समन्वय ही सत्य है। जब हम विश्व को ज्ञेय की दृष्टि से देखते हैं तब चेतन और अचेतन द्रव्य के त्रैकालिक अस्तित्व और परिवर्तन का समन्वय सत्य और उनका विभाजन असत्य है। जब हम विश्व को हेय और उपादेय की दृष्टि से देखते हैं तब श्रेय सत्य है और प्रेय असत्य है।' महावीर ने समाधान दिया।

ज्ञान और कर्म का समन्वय

महावीर कोरे दार्शनिक नहीं थे और न कोरे धार्मिक ही थे। वे दर्शन और धर्म के समन्वयकार थे। उन्होंने सत्य को

देखा, फिर चेतना के विकास के लिए अनाचरणीय का संयम और आचरणीय का आचरण किया।

महावीर ने कहा—अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन (भक्ति) और अकेला पुरुषार्थ (कर्म) मनुष्य को दुख-मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। ज्ञान, दर्शन और आचरण का समन्वय ही मनुष्य को दुख-मुक्ति की ओर ले जा सकता है। इस दर्शन के आधार पर उन्होंने इस सूत्र का प्रतिपादन किया—पहले जानो, फिर करो। ज्ञानहीन कर्म और कर्महीन ज्ञान—ये दोनों व्यर्थ हो जाते हैं। ज्ञात सत्य का आचरण और आचरित सत्य का ज्ञान—ये दोनों एक साथ होकर ही सार्थक होते हैं।

ज्ञान और आचार का सेतु है—श्रद्धा

ज्ञान और आचार के बीच में एक दूरी बनी रहती है। हम बहुत-सारे सत्यों को जानते हैं, पर आचरण नहीं करते। सीधा आचरण से ज्ञान नहीं जुड़ सकता है। उन दोनों को जोड़ने वाला सेतु श्रद्धा है। वह ज्ञातसत्य के प्रति आकर्षण पैदा करता है। आकर्षण पुष्ट हो जाता है, तब ज्ञान स्वयं आचार बन जाता है। हम लोग समझते हैं कि जिसका ज्ञान न हो उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। महावीर ने ठीक इसके विपरीत कहा—जिसका ज्ञान हो जाए उसके प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा अज्ञान का संरक्षण नहीं करती। वह ज्ञान को आचरण तक ले जाती है। ज्ञान दुर्लभ है, श्रद्धा उससे भी दुर्लभ है, आचरण उससे भी दुर्लभ है। ज्ञान के परिपक्व होने पर श्रद्धा सुलभ होती है और श्रद्धा के सुलभ होने पर आचरण सुलभ होता है।

आत्मा ही परमात्मा

महावीर ने किसी शास्त्र को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना। उन्होंने यह घोषणा की कि ज्ञान का मूल स्रोत मनुष्य है। आत्मा से भिन्न कोई परमात्मा नहीं है। आत्मा ही कर्मबंधन से मुक्त होकर परमात्मा बनती है। उनके दर्शन में स्वतः प्रामाण्य शास्त्र का नहीं है, मनुष्य का है। वीतराग मनुष्य प्रमाण होता है और अंतिम प्रमाण अपनी वीतराग दशा है।

सहअस्तित्व और समन्वय—मैत्री का सूत्र

महावीर अनेकात्मवादी थे। उन्होंने बताया—आत्माएं अनंत हैं। वे किसी एक आत्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा से स्वतंत्र है। सब आत्माओं में चैतन्य है, पर वह सामुदायिक नहीं है। वह हर आत्मा का अपना-अपना है, स्वतंत्र है। जैसे आत्माएं अनेक हैं, वैसे ही उनकी योनियां भी अनेक हैं। कोई आत्मा पशु-जीवन में है और कोई मनुष्य जीवन में। मनुष्य जीवन में भी अनेक विभाजन हैं। कोई मनुष्य शीत कटिबंध में जन्मा हुआ है तो कोई उष्ण कटिबंध में। कोई गोरा है तो कोई काला है। महावीर के युग में मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में बंटा था। यह विभाजन मनुष्य के अपने कर्म-संस्कार, भौगोलिक वातावरण और समाज-व्यवस्था के आधार पर हुए थे। पर, मनुष्य का अहंकार प्रबल होता है और जिस वर्ग को अपना अहंकार प्रकट करने की सुविधा मिली, उसने उच्चता और नीचता की दीवारें खड़ी कर दीं। जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले मनुष्य नीच कहलाने वाले मनुष्य के साथ पशु से भी हीन व्यवहार करने लगे। इस स्थिति में महावीर ने चिंतन किया कि वस्तु-जगत में समन्वय है, सहअस्तित्व है तो फिर मानव-जगत में समन्वय और सहअस्तित्व क्यों नहीं होना चाहिए? इसी उत्प्रेक्षा के आधार पर उन्होंने मैत्री का सूत्र प्रस्तुत किया।

उन्होंने कहा—सब जीवों के साथ मैत्री करो। मैत्री का सिद्धांत बहुत अच्छा है। सिद्धांत का सौंदर्य व्यवहार का सौंदर्य बन जाए—यह सरल नहीं है। स्वभाव, रुचि और चिंतन की धारा भिन्न होने पर मैत्री टूट जाती है। महावीर ने उसे साधने के लिए सूत्र दिया—सहिष्णुता। उन्होंने बताया—भेद के पीछे छिपे हुए अभेद को मत भूलो। तुम जिससे भिन्न हो, उससे उतने ही अभिन्न भी हो। जब सबसे भिन्न-अभिन्न हो, तब भेद को सामने रखकर कैसे किसी को शत्रु मानते हो और अभेद को सामने रखकर कैसे किसी को मित्र मानते हो? तुम जिसे शत्रु मानते हो, उसे भी सहन करो और जिसे मित्र मानते हो—उसे भी सहन करो। इस सूत्र से अपने-आप को भावित करो—

मैं सब जीवों को सहन करता हूं।
वे सब मुझे सहन करें।
मेरी सबके प्रति मैत्री है,
किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है।

तुम सबसे भिन्नाभिन्न हो, तब कैसे किसी को नीच मानते हो और कैसे किसी को उच्च मानते हो? तुम जिसे नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। अहंकार को छोड़ यथार्थ को देखो। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र होता है। यह

कर्म का विभाजन है। इस विभाजन के साथ अहंकार को जोड़कर उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित मत करो, मनुष्य को तोड़ कर मत देखो। व्यक्तित्व और कर्तृत्व के साथ जुड़ी हुई मानवीय एकता को मत भूलो। इस घोष ने भारतीय मानस को आंदोलित कर दिया। अनकेता एकता से पृथक् नहीं है और एकता अनेकता से पृथक् नहीं है। सहअस्तित्व का यही मौलिक आधार है। इसी आधार पर मानवीय एकता संभव हो सकती है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियां एक साथ चल सकती हैं। अनेकता स्वाभाविक है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। शांतिपूर्ण जीवन के लिए सहअस्तित्व अनिवार्य है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता।

नैतिकता और धर्म-दर्शन

बीज की निष्पत्ति पेड़ और पेड़ की निष्पत्ति फल है। इसी तरह दर्शन की निष्पत्ति नैतिकतापूर्ण व्यवहार है। जब हम भीतर से देखते हैं—तब दर्शन से धर्म की और धर्म से नैतिकता की भूमिका पर आते हैं। जब हम बाहर से देखते हैं—तब नैतिकता से धर्म की और धर्म से दर्शन की भूमिका पर चले जाते हैं। महावीर का दर्शन भीतर से बाहर की ओर था। उसी आधार पर उन्होंने कहा—जिसका दृष्टिकोण सम्यक् है वही व्रती होगा। अहिंसा का व्रती अपने आश्रितों और कर्मकारों के प्रति क्रूर व्यवहार नहीं करेगा, उनकी आजीविका में विघ्न नहीं डालेगा। सत्य का व्रती विश्वासघात नहीं करेगा, झूठी गवाही नहीं देगा। अचौर्य का व्रती मिलावट नहीं करेगा, असली वस्तु दिखाकर नकली वस्तु नहीं देगा। ब्रह्मचर्य का व्रती विलासपूर्ण सामग्री का उपयोग नहीं करेगा। अपरिग्रह का व्रती संग्रह की सीमा करेगा। व्यक्तिगत जीवन में संयमी रहेगा। जिसके जीवन में नैतिकता नहीं है, उसमें धर्म नहीं हो सकता। नैतिकता-विहीन धर्म की कल्पना महावीर के लिए सर्वथा असंभव थी। धर्म के आचरण से व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता, सामाजिक संबंधों पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता तो कैसे समझा जाए कि धर्म का आचरण करने वाले जीवन में धर्म है? धर्म शुद्ध आत्मा में उतरता है। आत्मा की शुद्धता होती है, वहां अनैतिकतापूर्ण व्यवहार संभव नहीं हो सकता।

मौलिक सिद्धांत

महावीर ने तत्त्व, धर्म और व्यवहार के जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और जिन सिद्धांतों ने जनमानस को आंदोलित किया—वे आज भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने ढाई हजार वर्ष पूर्व थे। संक्षेप में उन सिद्धांतों और उनसे फलित शिक्षाओं का आकलन भी किया जाना चाहिए।

यह आकलन इस प्रकार हो सकता है—

अनेकांत और स्याद्वाद

तत्त्व को अनंत दृष्टिकोण से देखना अनेकांत और उसका सापेक्ष प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। सत्य अनंत-धर्मा है। एक दृष्टिकोण से उसके एक धर्म को देखकर शेष अदृष्ट धर्मों का खंडन मत करो।

एक ज्ञात धर्म को ही सत्य और शेष अज्ञात धर्मों को असत्य मत कहो।

सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो, अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरों के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।

प्रत्येक विचार सत्य हो सकता है और प्रत्येक विचार असत्य हो सकता है—एक विचार दूसरे विचारों से सापेक्ष होकर सत्य होता है। एक विचार दूसरे विचारों से निरपेक्ष होकर असत्य हो जाता है।

अपने विचार की प्रशंसा और दूसरे के विचार की निंदा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।

अहिंसक क्रांति

राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। सब जीवों के प्रति संयम करना और समभाव रखना भी अहिंसा है। समानता का भाव सामुदायिक जीवन में विकसित होता है तब अहिंसक क्रांति घटित हो जाती है। महावीर ने अहिंसक क्रांति के लिए जनता को ये सूत्र दिए—

किसी का वध मत करो।

किसी के साथ वैर मत करो। जो दूसरों के साथ वैर करता है, वह अपने वैर की शृंखला को और प्रलंब कर देता है।

सबके साथ मैत्री करो।

अहिंसा के इन सूत्रों का मूल्य वैयक्तिक था। महावीर ने सामाजिक संदर्भ में भी अहिंसा के सूत्र प्रस्तुत किए।

उस समय दास-प्रथा चालू थी। संपन्न मनुष्य विपन्न मनुष्य को खरीदकर दास बना लेता था। महावीर ने इस हिंसा के प्रति जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने एक सूत्र दिया—दास बनाना हिंसा है, इसलिए किसी को दास मत बनाओ।

उस समय के पुरुष स्त्रियों को और शासकवर्ग शासितों को पराधीन रखना अपना अधिकार मानते थे। महावीर ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि दूसरों को पराधीन बनाना हिंसा है। उन्होंने अहिंसा का सूत्र इस तरह दिया—दूसरों की स्वाधीनता का अपहरण मत करो।

उस समय उच्च और नीच—ये दो जातियां समाज-व्यवस्था द्वारा स्वीकृत थीं। उच्च जाति नीच जाति से घृणा करती थी। उसे अछूत भी मानती थी। महावीर ने इस व्यवस्था को अमानवीय प्रतिपादित किया। उन्होंने कहा—जाति वास्तविक नहीं है।

जाति-व्यवस्था परिवर्तनशील और काल्पनिक है। इसे शाश्वत का रूप देकर हिंसा को प्रोत्साहन मत दो। किसी मनुष्य से घृणा मत करो। उन्होंने सब जाति के लोगों को अपने संघ में सम्मिलित कर 'मनुष्य जाति एक है'—इस आंदोलन को गतिशील बना दिया।

उस समय स्वर्ग की प्राप्ति के लिए पशु की बलि दी जाती थी। महावीर ने कहा—स्वर्ग मनुष्य का उद्देश्य नहीं है, उसका उद्देश्य है निर्वाण—परमशांति। पशुबलि से स्वर्ग नहीं मिलता। जो पशुबलि देता है, वह मूक पशुओं की हिंसा कर अपने लिए नरक का द्वार खोलता है।

उस समय माना जाता था कि युद्ध में मरने वाला स्वर्ग में जाता है। महावीर ने इसकी अवास्तविकता का प्रतिपादन करते हुए कहा—'युद्ध हिंसा है। वैर से वैर बढ़ता है। उससे समस्या का समाधान नहीं होता।'

आक्रमण मत करो। मांसाहार और शिकार का वर्जन करो।

अपरिग्रह

मन में ममत्व का भाव न होना अपरिग्रह है। वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महावीर ने हिंसा और परिग्रह को तोड़कर नहीं देखा। मन में हिंसा का भाव (अहंकार या ममकार) होता है तब संग्रह करने की वृत्ति जागती है और जब मनुष्य संग्रह करता है तब उसकी हिंसा प्रबल हो उठती है। इस प्रकार हिंसा के लिए संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा—यह चक्र चलता रहता है।

महावीर ने अपरिग्रह के इन सूत्रों का प्रतिपादन किया—

अपने शरीर और परिवार के प्रति होने वाले ममत्व को कम करो।

उपभोग की वस्तुओं का संयम करो।

धन-संपदा बढ़ाने या उसकी सुरक्षा करने के लिए फैलाव मत करो—विस्तारवादी नीति मत अपनाओ।

दूसरों के स्वत्व पर अधिकार करने के लिए आक्रमण मत करो।

पुरुष और पौरुष

मनुष्य अपने सुख-दुख का कर्ता स्वयं है। अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है।

राजा देव नहीं है, ईश्वर का अवतार नहीं है। वह मनुष्य है, उसे देव मत कहो, संपन्न मनुष्य कहो।

ग्रंथ मनुष्य की कृति है। पहले मनुष्य, फिर ग्रंथ। कोई भी ग्रंथ ईश्वरीय नहीं है।

विश्व की व्यवस्था शाश्वत द्रव्यों के योग या परस्परापेक्षिता से स्वतः संचालित है। वह किसी एक सर्वशक्तिमान सत्ता द्वारा संचालित नहीं है।

यह विश्व छह द्रव्यों की संघटना है। वे ये हैं—

धर्म—गतितत्त्व। अधर्म—स्थितितत्त्व। आकाश। काल। पुद्‌गल। जीव।

मनुष्य अपने ही कर्तव्य से उत्क्रांति और अपक्रांति करता है। इस प्रसंग में महावीर ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन तत्त्वों की व्याख्या की।

मनुष्य भाग्य या कर्म के यंत्र का पुर्जा नहीं है। भाग्य मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य भाग्य को बनाता है। वह अपने पुरुषार्थ से भाग्य को बदल सकता है।

धर्मसंघ : सुव्यवस्था के सूत्र

धर्मसंघ की सुव्यवस्था के लिए महावीर ने संघ के सूत्रों का इस प्रकार प्रतिपादन किया—

1. असंविभागी को मोक्ष नहीं मिलता, इसलिए संविभाग करो। दूसरों के हिस्से पर अधिकार मत करो।
2. अनाश्रितों को आश्रय देने के लिए तत्पर रहो।
3. नए सदस्यों को शिक्षा देने के लिए तत्पर रहो।
4. रोगी की सेवा के लिए तत्पर रहो।
5. पारस्परिक कलह हो जाने पर किसी का पक्ष लिए बिना उसे शांत करने का प्रयत्न करो।

सामाजिक संगठनों के लिए भी आज इन सूत्रों की उपयोगिता कम नहीं है।

धर्म का स्वरूप

धर्म सर्वाधिक कल्याणकारी है। किंतु वही धर्म, जिसका स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है। विषय-वासना, धन और सत्ता से जुड़ा हुआ धर्म संहारक विष की भांति खतरनाक होता है। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा और हिंसापूर्ण उपासनाएं करने वाला अधर्म को प्रोत्साहन देता है। चरित्रहीन व्यक्ति को संप्रदाय और वेश त्राण नहीं देते। धर्म और धर्म-संस्था एक नहीं हैं।

भाषा का पांडित्य और विद्याओं का अनुशासन मन को शांत नहीं कर सकता। मन की शांति का एक ही साधन है—धर्म।

निर्वाण

आत्मानुशासन के होने पर ही दूसरे शासन सफल हो सकते हैं, इस आधार-भित्ति पर महावीर ने जनमानस को धर्म-शासन में दीक्षित किया। ईस्वी पूर्व 527 में उनका निर्वाण हुआ। निर्वाण से पूर्व भगवान ने दो दिन का उपवास किया। उस अवधि में वे धर्म का प्रवचन करते रहे। पर्यंकासन में बैठे हुए कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। मल्ल और लिच्छवि गणतंत्र के शासकगण और जनता ने दीप जलाकर निर्वाण-उत्सव मनाया। ज्योति की स्मृति में ज्योतिपर्व संस्थापित हो गया।

❖

जलगांव में संपन्न 140वां मर्यादा महोत्सव...... पृष्ठ 20 का शेष

संघ के साधु-साध्वियों सहित संपूर्ण चतुर्विध संघ के लिए ये संकल्प इस प्रकार हैं—

1. मैं विनम्रता की साधना करूंगा/करूंगी। 2. मैं सहिष्णुता की साधना करूंगा/करूंगी। 3. मैं सामंजस्य की साधना करूंगा/करूंगी। 4. मैं शांत-सहवास की साधना करूंगा/करूंगी। 5. मैं सामुदायिक चेतना का विकास करूंगा/करूंगी।

इस संकल्प के साथ उन्होंने आचार्य भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी वर्ष के उपलक्ष में विशेष आराधना का आह्वान भी किया और इसके लिए दो मंत्र उद्घाटित किए। ये मंत्र हैं—

1. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ अ सि आ उ सा नमः।

2. नमिऊण असुर सुर गुरुल भुयंग परिवंदिय गय
किलेसे अरिहे सिद्धायरिये उवज्झाय सव्व साहूणं।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपेक्षा की कि आचार्य भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी के दौरान साधना की दृष्टि से यह क्रम वर्ष-भर के लिए शुरू किया जाना चाहिए।

इस अवसर पर युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में कहा कि मर्यादा के भीतर रहना हमारा कर्तव्य है। उन्होंने कहा कि जीने के लिए सहयोग की सदा जरूरत होती है। जीवन सापेक्ष रहकर ही जीया जा सकता है, निरपेक्ष रहते हुए नहीं। वृत्तियां अलग-अलग और समझ-बुद्धि भी अलग-अलग होती हैं, लेकिन सामंजस्य के साथ व्यवस्थित रहते हुए कैसे चलें—यह नेतृत्व पर निर्भर करता है। धार्मिक जगत में भी नेतृत्व की आवश्यकता होती है। तेरापंथ संघ में एक आचार्य का नेतृत्व है और सब-कुछ उन पर निर्भर है। ऊपर से इसमें एकतंत्र परिलक्षित हो रहा है, लेकिन आंतरिक लोकतंत्र एवं मानवाधिकार की बातें भी इसमें अंतर्निहित हैं। साधु-साध्वियों और चतुर्विध संघ को प्रश्न करने की, जिज्ञासा प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता है। तेरापंथ में एक अच्छे तंत्र की सुदृढ़ नींव पड़ी हुई है, जो नेतृत्वकर्ता को सुगमता प्रदान करती है। युवाचार्यश्री ने कहा—हमारी यह परंपरा अक्षुण्ण है। इस परंपरा में मृदुता है, करुणा है और कदाचित् कठोरता भी नजर आती है, पर लक्ष्य एक ही है कि स्वस्थता बनी रहे। उन्होंने नेतृत्व के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा—हम धन्य हैं, साधना कर रहे हैं और लंबे काल तक श्रीचरणों की सेवा करते हुए हम साधनारत रहें—यही अपेक्षा है।

अवसर-विशेष पर साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा कि—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को स्तुति पसंद नहीं, तो वह हम क्यों करें। हमें स्तुति नहीं करनी, प्रस्तुति तो करें। महाश्रमणीजी ने आचार्य हरिभद्र के एक श्लोक का उल्लेख किया और कहा कि हम इसे अपने सामने रखकर प्रतिस्रोत में जाने की ताकत हासिल करें। उन्होंने कहा

कि—'मर्यादा' के प्रति निष्ठा का वृद्धिकरण ही 'मर्यादा महोत्सव' है। संकल्पों के प्रति यदि हम निष्ठावान हो जाएं तो कभी कोई कठिनाई महसूस नहीं हो सकती।

मर्यादा के महत्त्व को रूपायित करते हुए साध्वीप्रमुखाश्री ने कहा—'पक्षी नीड़ का निर्माण करता है, पंखों पर प्रतिबंध नहीं कि वे उड़ान न भरें।' अपनी इस बात को उन्होंने निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया—

अस्ति नास्ती हैं जुड़वां बहनें, सहज शक्ति ये द्वंद्व नहीं है।
नीड़ नहीं है कारा खग की, पंखों पर प्रतिबंध नहीं है।

महाश्रमणजी ने इस अवसर पर शक्ति के पांच स्रोत बताए—शिक्षा, व्यापक दृष्टिकोण, युगबोध, चरित्र विकास और सामुदायिक चेतना का विकास। उन्होंने विश्वास प्रकट किया कि मर्यादा महोत्सव जैसे अवसर हमको अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर सोचने की प्रेरणा सदैव देते रहेंगे।

जलगांव मर्यादा महोत्सव के इस मुख्य कार्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा मर्यादा महोत्सव समिति के अध्यक्ष श्री सुरेशदादा जैन ने की। श्री सुरेशदादा जैन महाराष्ट्र सरकार में काबीना मंत्री भी हैं। अपनी मातुश्री श्रीमती प्रेमबाई जैन के विशेष अनुरोध पर जलगांव को प्रदत 140वें मर्यादा महोत्सव की यादगार को चिरस्थाई बनाने के उद्देश्य से श्री सुरेशदादा जैन ने यह महत्त्वपूर्ण घोषणा की।

जिस परिसर में मर्यादा महोत्सव संपन्न हुआ, उसी परिसर में 83 एकड़ भूमि पर 'अहिंसा नगर' स्थापित करने का संकल्प व्यक्त किया। श्री सुरेशदादा जैन ने 'अहिंसा इंटरनेशनल' और अहिंसा, जीवन विज्ञान व प्रेक्षाध्यान के शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए 'विश्वविद्यालय' स्थापित करने जैसे बिंदुओं पर विचार कर कोई ठोस योजना बनाने का संकल्प भी प्रकट किया।

मर्यादा महोत्सव के तीन दिवसीय समारोह के दौरान जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा ने उन्हें 'समाजभूषण' से भी अलंकृत किया।

रूस में कार्यशील 'इंस्टिट्यूट ऑफ ऑरियेंटल रिसर्च' के निदेशक डॉ. रिबाकोव भी इस अवसर पर उपस्थित थे। डॉ. रिबाकोव ने अपने वक्तव्य में कहा कि रूस को आपके अहिंसा संदेश और पावन उपदेशों की जरूरत है। इससे रूस में नई चेतना का जागरण होगा। उन्होंने आग्रह किया कि अहिंसा यात्रा रूस तक बढ़ाई जाए। प्रो. रिबाकोव ने अपने वक्तव्य के दौरान कुछ बातें हिंदी भाषा में कहीं तो उपस्थित जनसमूह आह्लादित हो उठा। उनके अंग्रेजी वक्तव्य का हिंदी रूपांतरण भारत-रूस मैत्री संघ के भारतीय प्रतिनिधि श्री प्रणवराय ने किया।

इस अवसर पर उपस्थित स्वामी गुरुवानंद ने भी अपने विचार रखे। समारोह में केंद्रीय राज्यमंत्री श्री अण्णा पाटिल भी उपस्थित थे।

मुख्य समारोह के शुरू में समणीवृंद ने 'भिक्षु अष्टकम' के कुछ पदों का संगान किया। मुनिश्री विजयकुमारजी व मुनिश्री दिनेशकुमारजी ने सस्वर गीत का संगान किया। मुमुक्षुवृंद, समणीवृंद, साधु-साध्वीवृंद ने भी भावपूर्ण समूहगीतों का संगान किया। समणी प्रतिज्ञाप्रभा, मुनि प्रसन्नकुमारजी, मुनि आलोककुमारजी, मुमुक्षु कीर्ति, साध्वी अशोकश्री आदि ने भी अपनी भावनाएं प्रकट कीं।

मुनिश्री सुमेरमलजी 'लाडनूं' और मुनिश्री किशनलालजी ने मर्यादा महोत्सव के अवसर पर अपने सारगर्भित विचार प्रकट किए। लंदन में प्रवास कर रहे श्री अतुल शाह ने भी अपने विचार प्रकट किए।

इसी अवसर पर जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री सुरेंद्र चौरड़िया ने महासभा के नवमनोनीत पदाधिकारियों की घोषणा की। उन्होंने जैन भारती का फरवरी अंक व तेरापंथ दिग्दर्शन पुस्तक आचार्यवर को भेंट किए। श्री ठाकरमल सेठिया ने अतिथियों का स्वागत किया।

27 जनवरी; दूसरा दिन; पदाभिषेक समारोह

मर्यादा महोत्सव का दूसरा दिन 27 जनवरी आचार्य महाप्रज्ञजी के आचार्य पद पर पदाभिषेक का दिन है। इस बार 10वां पदाभिषेक समारोह श्रद्धा और उल्लास के साथ मनाया गया। आचार्यवर के प्रति सवेरे से ही मंगल श्रद्धाभाव प्रकट

करने का क्रम शुरू हो गया था। मुख्य कार्यक्रम 'अहिंसा समवसरण' में हुआ। इस अवसर पर अलग-अलग रूपों में आचार्यवर के प्रति मंगलभाव प्रकट किए गए। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने बाल्यकाल के घटनाक्रम को याद करते हुए बचपन के सूत्र 'होउक्कामेणं' का स्मरण किया और कहा—जिसे विकास करना है, उसे प्रतिस्रोत में बढ़ना होगा।

इस अवसर पर अगले पदाभिषेक समारोह तक एक वर्ष के लिए 10-10 मिनट के दो प्रयोग करने का युवाचार्यश्री महाश्रमणजी ने आह्वान किया और साधु-साध्वियों और समण-समणियों को इसकी अनुपालना का आग्रह किया। ये मंत्र प्रयोग हैं—

1. ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ॐ अ सि आ उ सा नमः।

2. नमिऊण असुर सुर गुरुल भुयंग परिवंदिय गय
किलेसे अरिहे सिद्धायरिये उवज्झाय सव्व साहूणं।

इस अवसर पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने प्रभावी और स्पर्शी उद्बोधन दिया। इसके साथ ही कई महत्त्वपूर्ण घोषणाएं भी कीं।

मुनिश्री दुलहराजजी को आचार्यवर ने 'आगम मनीषी' और मुनिश्री सुमेरमलजी, लाडनूं को 'तेरापंथ दर्शन मनीषी' जैसे विशेष संबोधनों से अलंकृत किया। आचार्यवर ने इनके व्यक्तित्व पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की।

इसी अवसर पर दो अन्य महत्त्वपूर्ण घोषणाएं भी हुईं। सन् 2005 का मर्यादा-महोत्सव लाडनूं तथा 2005 का चातुर्मास दिल्ली में करने की घोषणा की गई। इसके साथ ही अहिंसा यात्रा की अवधि भी दो वर्ष और बढ़ाने की घोषणा हुई।

इस अवसर पर कई साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं को भी विशेष संबोधनों से अंलकृत किया गया।

26 जनवरी, गणतंत्र दिवस की पूर्व संध्या पर भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम ने राष्ट्र को संबोधित करते हुए अपने संदेश में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का जो उल्लेख किया—उसकी चर्चा भी मर्यादा महोत्सव के दौरान निरंतर होती रही। डॉ. कलाम ने अपने संदेश में सूरत (गुजरात) में संपन्न हुए धर्मगुरु सम्मेलन और 'सूरत अध्यात्म घोषणा पत्र' का जिक्र करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का आदरपूर्वक उल्लेख किया था।

मर्यादा महोत्सव का प्रथम दिवस 26 जनवरी, 2004

मर्यादा महोत्सव का शुभारंभ बसंत पंचमी (26 जनवरी) के रोज आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की इस घोषणा के साथ हुआ—**यह मर्यादा महोत्सव भिक्षु निर्वाण द्विशताब्दी के अंतर्गत होने वाला महोत्सव है। मर्यादा, अनुशासन, विकास, तेरापंथ की जन्मघुट्टी है। संघ में इनका उत्तरोत्तर विकास होता रहे, इसी भावना के साथ मैं मर्यादा महोत्सव के शुभारंभ की घोषणा करता हूं।**

मर्यादा महोत्सव के पहले रोज पारंपरिक रूप से होने वाले कार्य संपन्न हुए। साधु-साध्वियों के सेवा केंद्रों पर सिंघाड़ों की घोषणा इस अवसर पर हुई। इसके साथ ही अलग-अलग स्तर पर साधु-साध्वियों व श्रावक-श्राविकाओं ने आचार्यवर को कई कृतियां भेंट कीं। अलग-अलग स्तर के सम्मान व अलंकरण प्रदान करने के कार्यक्रम भी हुए।

तीन दिन के इन समारोहों में भारत सरकार में मंत्री श्री संजय पासवान, श्री अण्णा पाटिल सहित अलग-अलग वर्ग के अनेक प्रमुख जन उपस्थित थे।

इस तरह 140वां मर्यादा महोत्सव चिर-स्थाई याद के साथ जलगांव में संपन्न हुआ। ❖

दुःख में गहराई है। सुख में गहराई नहीं होती। इसलिए जो लोग दुःख से गुजरते हैं, उनकी आंखों में, उनकी जिन्दगी में एक गहनता होती है। दुःख दुःख ही नहीं देता, मांजता भी है।

—ओशो (रजनीश)

आजकल बहुत-से लोग सत्य को अव्यवहार्य मानते हैं। यह उनकी कायरता है। असत्य का आचरण कौन करते हैं? असत्य का आचरण हीन आदमी करते हैं। शास्त्रों में कहा गया है—'णीयजणा णिसेवियम्।'—असत्य वे बोलते हैं, जो नीच हैं। पर आज तो उच्च कहलाने वाले लोग भी असत्य का आचरण करते संकोच नहीं करते। असत्य कोई भी बोले—यह अच्छी बात नहीं है। इससे व्यक्ति का ही स्तर गिरता है।

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा

आचार्यश्री तुलसी

आगमों में कहा गया है—**सच्चम्मि धिइं कुव्वहा**—सत्य में धैर्य रखो। **सच्चं लोयम्मि सारभूयं**—सत्य लोक में सारभूत है। सत्य समुद्र के समान गंभीर और मेरु के समान ध्रुव है। सब विद्याएं सत्य-प्रतिष्ठित हैं—**जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा... विज्जा...सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।** ऋग्वेद में भी कहा गया है—**ऋतस्य पथा प्रेतः**—सत्य के पथ पर चलो। सत्य की साधना करो। साधना का फल तत्काल नहीं मिलता। इसलिए फलाभाव में अपने धैर्य को मत खोओ। निष्ठा के साथ सत्य की साधना करो।

'सत्य की साधना' के संदर्भ में विचार करने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि यह विषय वर्तमान युग के अनुकूल नहीं है। लोगों का लगाव और आकर्षण सत्य के प्रति कम है। यह बात युग के अनुकूल हो या न हो, पर सबको इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि साधना के अनुकूल सत्य की ही बात है। असत्य की बात लोगों को रुचिकर होने के उपरांत भी साधना के अनुकूल नहीं है। इतना ही नहीं, हमें यह भी खयाल में रखना चाहिए कि युग बदलते रहते हैं। लोगों का चिंतन बदलता रहता है, पर शाश्वत साधना कभी नहीं बदलती। सत्य शाश्वत है।

सत्य की साधना के लिए जरूरी है कि हम असत्य को भी ठीक से समझें। उसको जाने-समझे बिना सत्य की साधना कैसे संभव होगी। शास्त्रों में असत्य को विकृति—माया कहा गया है। एक असत्य को ढांकने के लिए व्यक्ति को बार-बार असत्य बोलना पड़ता है।

ब्राह्मण जा रहा था। मार्ग में एक विद्वान मिल गया। उसने पूछा—**ओ सखे! कुक्षे किं वद?**—मित्र! तुम्हारी कांख में क्या है?

ब्राह्मण सच प्रकट नहीं करना चाहता था। वह झूठ बोला—**पुस्तकम्।**—पुस्तक है।

ब्राह्मण के इस उत्तर से विद्वान की जिज्ञासा समाहित होने के स्थान पर फिर एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ। उसने पुनः जिज्ञासा की—**किं उदकम्?**—यदि पुस्तक है तो इसमें पानी क्यों टपकता है?

अपने असत्य कथन को ढांकने के लिए ब्राह्मण को फिर नया असत्य बोलना पड़ा—**काव्यस्य सारो रसः।**—यह जल नहीं, अपितु काव्य का रस है।

पुच्छं किम्?—पर इसमें यह पूंछ-सी क्या है?

ताड़पत्रं लिखितम्।—यह तो ताड़पत्र है।

चित्रं किम्?—पर यह रंग-बिरंगा क्यों है?

गोडाक्षरम्।—गोड़ लिपि में है। इस लिपि में अक्षर चित्रमय होते हैं।

गंधः किम्?—इसमें गंध क्यों आती है?

राम-रावण-महासंग्राम-गंधोस्करः।—राम और रावण के संग्राम में जो खून-खराबा हुआ, उसकी गंध आ रही है।

आखिरकार ब्राह्मण बोला—**भूयः किं ननु पृच्छसि शृणु सखे! संजीवनं पुस्तकम्।**—मित्र! बार-बार क्या पूछ रहे हो, यह तो मछली है।

ब्राह्मण पहले झूठ बोला, उसे सच सिद्ध करने के लिए बार-बार झूठ बोलना पड़ा। आखिर उसे सत्य का सहारा लेना ही पड़ा।

आजकल बहुत-से लोग सत्य को अव्यवहार्य मानते हैं। यह उनकी कायरता है। असत्य का आचरण कौन करते हैं? असत्य का आचरण हीन आदमी करते हैं। शास्त्रों में

कहा गया है—**णीयजणा णिसेवियम्।**—असत्य वे बोलते हैं, जो नीच हैं। पर आज तो उच्च कहलाने वाले लोग भी असत्य का आचरण करते संकोच नहीं करते। असत्य कोई भी बोले—यह अच्छी बात नहीं है। इससे व्यक्ति का ही स्तर गिरता है।

असत्य वे बोलते हैं, जिनका सत्य में विश्वास नहीं है। असत्य वे बोलते हैं, जो दुराग्रही हैं। असत्य वे बोलते हैं, जो **सत्** तत्त्व का अपलाप करते हैं। असत्य वे बोलते हैं, जो कूट तोल-माप करते हैं, अनैतिक व्यापार करते हैं। जो अच्छा आदमी है, वह कभी झूठ बोलना नहीं चाहेगा।

जो लोग मिथ्या प्रचार करते हैं, वे महापाप करते हैं। वे स्वयं के अहित के साथ-साथ हजारों-लाखों लोगों को भी गलत मार्ग पर ले जाते हैं। हम सोचें, दूसरे लोगों को गलत पथ पर ले जाना क्या महापाप नहीं है? अपने विचारों से भ्रमित/गुमराह कर लाखों-लाखों लोगों को उन्मार्ग पर ले जाना महापाप नहीं तो क्या है? कुछ साधुवेशधारी भी असत्य से अपनी आजीविका चलाते हैं। क्या यह दुनिया के साथ धोखा नहीं है? महापाप नहीं है?

बहुत-सारे लोग असत्य का सहारा लेकर अर्थ-संग्रह करते हैं। उनके जीवन को देखकर ऐसा लगता है कि अर्थ ही उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया है। उन्हें समझना चाहिए कि गलत तरीकों से संग्रह किया गया धन अधिक समय तक नहीं टिकता। यदि कोई टिकाने का प्रयास भी करता है तो वह उसमें सफल नहीं होता। फिर उन्हें यह भी सोचना चाहिए कि अर्थ सामाजिक जीवनयापन का साधनमात्र है। इससे आगे उसकी कोई उपयोगिता एवं उपादेयता नहीं। फिर असत्य के सहारे धन-संग्रह करना कहां की समझदारी है?

सत्य के साधक को असत्य बोलने के कारणों को दूर करना चाहिए। परिणाम को मिटाने के लिए कारण को मिटाना आवश्यक है। कारण के मिटे बिना परिणाम या कार्य को मिटाने की बात बेमानी है। असत्य के कारण जब तक उपस्थित हैं, सत्य की साधना संभव नहीं है।

यह पूछा जा सकता है कि असत्य-भाषण के कौन-कौन-से कारण हैं? प्रायः व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय और हास्य—इन चार स्थितियों के वशीभूत होकर असत्य बोलता है।

क्रोधी मनुष्य को सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में वह प्रायः झूठ बोलता है। असत्य बोलने का बड़ा कारण भय है। व्यक्ति गलत कार्य कर लेता है, पर उसे स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता। यदि सही-सही बता दिया तो जाने क्या होगा, लोग क्या समझेंगे—यह आशंका या भय उसे न चाहते हुए भी झूठ बोलने को प्रेरित करता है। जबकि वास्तविकता यह है कि गलत कार्य करने वाला और उसे स्वीकार न करने वाला सदा कायर होता है। दूसरी ओर साहस के साथ स्वीकार करना और अपने किए पर प्रायश्चित्त करने वाला वीर माना जाता है। दुर्भाग्य से लोग मानने लगे हैं कि निडर होकर गलत कार्य करना, फिर किसी भी स्थिति में उसे स्वीकार न करना, क्षमा न मांगना, प्रायश्चित्त न करना वीरता है और गलती को सहर्ष स्वीकार कर क्षमा मांगने वाला, प्रायश्चित्त करने वाला कायर होता है। यह वृत्ति व्यक्ति के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। अपनी भूल या प्रमाद को स्वीकार करने में भय खाना उचित नहीं है। हिम्मत जुटाकर ऋजुता के साथ स्वीकार कर लेना और उसका प्रायश्चित्त कर लेना ही वीरता है।

हम देखते हैं कि क्षुद्र लोभ के लिए असत्य बोलना बहुत सामान्य-सी बात हो गई है। बिना किसी खास प्रयोजन के भी आदमी झूठ बोल देता है। सत्य के साधक को इससे बचना चाहिए, सलक्ष्य बचना चाहिए।

सत्य बोलने में भी विवेक की नितांत अपेक्षा है। कहा गया है—**सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्।** सत्य भी ऐसा बोलना चाहिए—जो प्रिय हो, जो विवेक से संयुत हो। विवेक के बिना बोला गया सत्य बहुधा हानिप्रद हो जाता है।

सेठजी के यहां एक नौकर रहता था। उसका काम था—सेठजी को पानी पिलाना। वह अपने इस काम के प्रति अत्यंत जागरूक था। सेठजी जब-कभी बाहर जाते तो पानी की व्यवस्था के साथ वह भी उनके संग हो जाता। एक दिन सेठजी किसी दूरस्थ गांव में गए। नौकर को तो साथ जाना ही था। गर्मी का मौसम था और सेठजी को बार-बार प्यास लग रही थी। नौकर हर बार ठंडा पानी पिलाकर उनकी प्यास शांत कर रहा था। पर कब तक करता। एक समय के पश्चात् साथ लाया सारा पानी समाप्त हो गया। नौकर को चिंता हुई। उसने मार्ग में चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। संयोग से उसकी दृष्टि एक बावड़ी पर पड़ी। वह सीधा उसी ओर चल पड़ा। लोगों ने देखा तो उसे रोका और वहां न जाने की सलाह दी। कारण पूछने पर बताया कि आज तक जो भी उस बावड़ी के भीतर गया—वह जीवित नहीं आया। नौकर ने लोगों की बात सुनी अवश्य, पर बावड़ी में जाने के अपने

विचार को नहीं बदला। वह साहस कर बावड़ी के भीतर गया। देखा—पानी स्वच्छ और शीतल है। उसने जी-भर पानी पीया। पर जैसे ही अपना बर्तन भरकर चलने को तैयार हुआ कि सहसा एक दैत्य वहां प्रकट हुआ। उसका चेहरा विकराल था। हाथ में हड्डियों की एक माला थी। उस दैत्य ने प्रश्न किया—'मैं कौन हूं?'

नौकर को यह समझते हुए देर नहीं लगी। जिस खतरे के प्रति लोगों ने सावधान किया था, वह यही है। वह घबराया नहीं। उसने उत्तर दिया—'आप देव हैं।'

'मेरे हाथ में क्या है?'—दैत्य का अगला प्रश्न था।

'आपका आयुध।'—समझदारी के साथ बिना भय के नौकर ने उत्तर दिया।

'यह कैसा लगता है?'—दैत्य ने तीसरा और अंतिम प्रश्न किया।

'जैसा इंद्र के हाथ में वज्र।'

नौकर के उत्तरों से दैत्य अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'तुम इच्छित वरदान मांगो।'

नौकर ने कहा—'वरदान मांगने का कह कर आपने बहुत कृपा की, पर मुझे मेरे लिए कोई वरदान नहीं चाहिए। आप प्रसन्न हैं तो इस बावड़ी का पानी पीने में किसी को कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। बस, इतना-सा मेरा निवेदन आप स्वीकार कर लें।'

दैत्य बोला—'मैंने कभी कोई बाधा नहीं दी। जो लोग यहां मर गए उसके लिए वे स्वयं ही जिम्मेदार हैं। जब भी कोई पानी पीकर जाता, मैं आज की तरह ही उपस्थित होकर ये तीन प्रश्न करता। कुछ तो मेरे रूप को देखकर उत्तर देने के पूर्व ही डर से मर गए। कइयों ने उत्तर दिया—तू राक्षस है। तेरे हाथ में मृत पशुओं की हड्डियां हैं। तू बदरूप लगता है। ...बस, ऐसे कर्णकटु उत्तर देने के कारण मैंने उन्हें मारा।'

नौकर को बावड़ी से किसी के भी जीवित वापस न लौटने का वास्तविक कारण मिल गया। उसने दैत्य से कहा—'सब लोगों में बोलने का विवेक नहीं होता। इसलिए वे ऐसा अप्रिय उत्तर दे देते हैं। खैर, अब आप बावड़ी का पानी पीने वाले को दर्शन देने का कष्ट न करें तो ऐसी स्थिति बनेगी ही नहीं। सारी बाधा स्वयं समाप्त हो जाएगी।'

दैत्य ने नौकर को **तथाऽस्तु** कहते हुए उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

जो लोग बावड़ी में जाते रहे, वे सच ही बोलते रहे और नौकर भी सच ही बोला था, पर दोनों के परिणाम में आकाश-पाताल का अंतर आया। कारण बहुत स्पष्ट है। लोगों का सत्य-भाषण प्रिय नहीं था, विवेक-संयुत नहीं था, जबकि उस नौकर का सत्य-कथन प्रिय था, विवेकयुत था। इसलिए सत्य के साथ विवेक होना चाहिए। कुछ लोग अपने को स्पष्टवादी बताते हैं। स्पष्टवादी होना बुरी बात नहीं है, पर उसकी मर्यादा यही है कि वह विवेक से अनुशासित हो। यदि कोई इस मर्यादा का अतिक्रमण कर स्पष्टवादिता के नाम पर किसी का मर्मोद्घाटन करता है तो वह सत्य असत्य से ज्यादा भयंकर है। इसलिए सत्य के विवेक-संयुत होने की बात का महत्त्व समझना चाहिए। एकांततः सत्य की बात न पकड़कर, उसके भाव को भी देखना चाहिए।

सत्य का रूप व्यापक है। ऋजुता भी एक रूप है। ऋजुता का अर्थ है—सरलता। उसके तीन भेद हैं—

- काय-ऋजुता।
- भाव-ऋजुता।
- भाषा-ऋजुता।

असत्य न बोलने पर भी व्यक्ति काय-ऋजुता के अभाव में असत्यवादी बन जाता है। मौन रहकर भी कोई व्यक्ति अंगुली-संकेत, नेत्र-संकेत आदि से बड़े-से-बड़ा अनर्थ कर सकता है। इसलिए सत्य के साधक में काय-ऋजुता का होना अत्यंत आवश्यक माना गया है।

भाव-ऋजुता से तात्पर्य है—जैसा भीतर, वैसा बाहर। यानी भीतर-बाहर की एकरूपता। सत्य-भाषण के साथ व्यक्ति के विचारों में सरलता होनी चाहिए। विचारों की सरलता न होना ही तो माया है। माया असत्य का दूसरा नाम है। इसलिए इस बात को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि जहां सरलता है, ऋजुता है—वहां सत्य है। सत्य का व्यापक रूप ही ऋजुता है। सत्य-साधक को तीनों प्रकार की ऋजुता की समान रूप से साधना करनी चाहिए।

साधना के लिए संकल्प आवश्यक है। सत्य-साधक संकल्प करे—**अहं अनृतात् सत्यमुपैमि**—मैं असत्य को छोड़ सत्य को स्वीकार करता हूं। उसमें मेरा अटूट विश्वास है। यह एक अनुभूत सत्य है कि दृढ़ निष्ठावान व्यक्ति ही साधना में सफल हो पाता है और संकल्प के बिना निष्ठा घनीभूत नहीं होती। **सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।**—सत्य की नाव ही सत्यनिष्ठ की नाव पार लगाती है। ❖

यद्यपि विनय को आमतौर पर नम्रता के अर्थ में ही लिया जाता है, पर इतना अर्थ पर्याप्त नहीं है। व्यापक अर्थ वाले इस शब्द को सीमित अर्थ में आबद्ध कर देना संगत नहीं कहा जा सकता। जैन आगमों में यह शब्द आचार के अलावा अन्य प्रयोजनों में भी प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में भी विनय अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहां अनुशासन, व्यवस्था, विधि आदि को विनय अर्थ में गिना गया है। बौद्ध भिक्षुओं के विधि-ग्रंथ का नाम इसी अर्थ में 'विनयपिटक' रखा गया है।

विणओ शासणे मूलं : विणीओ संजओ भवे

❑ *मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'*

विनय और विनयवान के गुणों की चर्चा हर युग में होती रही है। शायद ही कोई ऐसा धर्मग्रंथ हो, जिसमें विनय और विनयशीलता के लिए कुछ न कहा गया हो। विनयवान के गुणोत्कीर्तन किस धर्मग्रंथ में नहीं मिलते? दुनिया के सभी धर्मशास्त्रों में इस जीवनमूल्य का जितना यशोगान किया गया है, उतना किसी अन्य का हुआ हो—ऐसा देखने में नहीं आता। उत्तराध्ययन आगमशास्त्र में विनयवान की महिमा का जैसा आख्यान किया गया है—वह माननीय और अनुकरणीय है। उसमें विनीत को जो दर्जा दिया गया है, वह महान उपलब्धि किसी सामान्य को नहीं, बल्कि परम विनीत को ही प्राप्त हो सकती है। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्याय में सूत्रकार ने लिखा कि—'हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणंज गई जहा'—जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।

विनय की महत्ता के बारे में उपदेशमाला ग्रंथ में कहा गया कि 'विणओ शासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे। विणयाओ विप्पमुक्कस कओ धम्मो कओ तओ'—विनय जिनशासन का मूल है। जो विनयरहित है, उसे धर्म और तप कहां से प्राप्त होगा?

मूलाचार ग्रंथ में आचार्य वट्टकेर ने लिखा—'विनय-हीन व्यक्ति की सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल विनय है।' संस्कृत की यह विश्रुत उक्ति 'विद्या ददाति विनयं' इसी बात को पुष्ट कर रही है। आचार्य ने शिक्षा का फल विनय और विनय का फल शेष समग्र कल्याण माना है।

'वही' नामक व्याख्याग्रंथ में विनय की व्यावहारिक निष्पत्तियों का जिक्र करते हुए बताया है कि विनीत की लोक में यश और कीर्ति होती है। उसका किसी के साथ वैर-विरोध नहीं बल्कि सभी से मैत्री का भाव होता है। इसी व्याख्या ग्रंथ में विनय को किस रूप में प्ररूपित किया है, यह भी माननीय है। ग्रंथकार ने लिखा है—'विनय किसी प्रकार की कोई मानसिक दासता नहीं है, यह तो व्यक्ति की आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यंजना है।' विनीत में निहित गुणों की चर्चा करते हुए आगे कहा गया है—'आत्म-शोधि, आत्मा का परिशोधन, निर्द्वंद्व, कलह आदि दुष्प्रवृत्तियों से उपरत, ऋजुता, सरलता, मृदुता, निश्छलता और निरहंकारिता, लाघव, आसक्ति का अभाव, भक्ति और प्रह्लादकरण—अर्थात् प्रसन्नता—ये गुण विनीत के जीवन में सहज समाहित होते हैं।

जैन दर्शन में विनय को आभ्यंतर तपस्या का एक प्रकार माना गया है। भगवान महावीर ने बारह प्रकार की 'तपोयोग' नामक साधना पद्धति में विनय को आठवें क्रम में रखा है। विनय तप है, तप धर्म है। दशवेआलियं नामक मूल आगमशास्त्र में विनय की महत्ता को उजागर करते हुए लिखा है—'एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो'—अर्थात् धर्म का मूल विनय है। मोक्ष उसकी परम निष्पत्ति है।

यद्यपि विनय को आमतौर पर नम्रता के अर्थ में ही लिया जाता है, पर इतना अर्थ पर्याप्त नहीं है। व्यापक अर्थ वाले इस शब्द को सीमित अर्थ में आबद्ध कर देना संगत नहीं कहा जा सकता। जैन आगमों में यह शब्द आचार के अलावा अन्य प्रयोजनों में भी प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध साहित्य में भी विनय अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहां अनुशासन, व्यवस्था, विधि आदि को विनय अर्थ में गिना

गया है। बौद्ध भिक्षुओं के विधि-ग्रंथ का नाम इसी अर्थ में 'विनयपिटक' रखा गया है।

विनीत-अविनीत को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययन आगम में कहा है कि—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आशय को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है। जिसमें इन सब बातों का अभाव होता है वह 'अविनीत' है। यह परिभाषा लोकोपचार विनय के आधार पर की गई है।

प्राचीनकाल में विनय का बहुत मूल्य रहा है। वर्तमान में विनय की परंपरा में काफी गिरावट आई है। बढ़ती अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता का यही एक मुख्य कारण है। प्राचीन शास्त्रों में विनीत-अविनीत के विशद विवेचन में पढ़ने को मिलता है कि विद्या का अधिकारी कौन हो सकता है। आचार्य विनीत को ही विद्या प्रदान करते हैं, उन्होंने अविनीत को विद्या के लिए अयोग्य करार दिया है। मन, वचन और काया से विनम्र होकर जो गुरु के पास विद्यार्जन करता है और जो विद्या विनय से प्राप्त की जाती है, वही विद्या शिष्य के लिए फलदाई होती है। दशवेआलियं सूत्र के विनय-समाधि अध्याय में बताया है कि जो शिष्य गुरु के पास जाकर क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत होकर अविनय से शिक्षा प्राप्त करता है, वह शिक्षा उसके विनाश का हेतु बनती है। सूत्रकार ने उदाहरण से स्पष्ट किया कि कीचक (बांस) का वृक्ष फल लगने पर जैसे विनाश को प्राप्त होता है, वैसे ही अविनय से प्राप्त विद्या व्यक्ति को विनाश की ओर धकेलती है। महावीर-वाणी में स्थान-स्थान पर यह उपदेश दिया गया है—'जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे, तस्संतिए वेण इयं पउंजे'—अर्थात् जिनके पास धर्मपद की—धर्म की शिक्षा ले उनके प्रति सदा विनय भाव रखना चाहिए। क्योंकि जो ज्ञान (शिक्षा) गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा व विनय द्वारा अर्जित किया जाता है, वह उसी प्रकार वृद्धिंगत होता है, जैसे जल के सींचने पर वृक्ष। यह अलग बात है कि इन शिक्षापदों को आज के इस अविनय, उच्छृंखल और अनुशासनरहित युग में नई पीढ़ी किस रूप में लेती है। आज के विज्ञान और तकनीकी के युग में युवा पीढ़ी का बौद्धिक और तार्किक विकास तो बहुत हुआ है, परंतु विवेक और प्रज्ञा का जागरण हुए बिना कोई कितना ही विकास कर ले, वह पूर्ण नहीं कहलाता और न समतामूलक समाज का निर्माण इससे संभव हो सकता है।

आंतरिक चेतना जब जागृत होती है, तब मनुष्य का चिंतन कोरा तार्किक नहीं रहता, बल्कि तर्क के साथ-साथ वह व्यक्ति श्रद्धा एवं विनय से भी आप्लावित होता है। आगम-श्लोकों में विनय का उत्कर्ष रूप भी मिलता है। प्राकृत भाषा में रचित आगम का यह कथन परम विनीत शिष्य का दिशा-दर्शन है—'अणंत नाणे वगओ वि संतो'—इस वाक्य में विनीत शिष्य का स्पष्ट दिशा-दर्शन है। कहा गया है—'शिष्य अनंतज्ञानी हो जाए तो भी आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था।'

इतिहास बताता है कि विकास के शिखर पर उन्हीं व्यक्तियों ने आरोहण किया है जो गुरु के प्रति विनम्र रहे हैं। हम जानते हैं कि गुरु के प्रति पूर्ण विनम्र और समर्पण भाव के कारण ही धनुर्विद एकलव्य को अपनी कला में पूर्ण दक्षता हासिल हुई थी। ऐसी घटनाएं इस बात का प्रमाण हैं कि व्यक्ति की अपनी विनम्रता ही उसे ऊपर उठाती है, महान बनाती है।

विनम्रता से व्यक्ति का दारिद्र्य ही दूर नहीं होता, अपितु जीवन में आने वाली विघ्न-बाधाओं से भी मुक्ति मिलती है। आचार्य शय्यंभव कृत रचना 'दशवेआलियं' का कथन है—विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्सय', अर्थात्—अविनीत को विपदा और विनीत को संपदा प्राप्त होती है।

जो विनम्र होता है, वह गुरुजनों द्वारा अनुशासन करने पर आवेश में नहीं आता, बल्कि वह मानता है कि गुरु द्वारा कहा हुआ कठोर वचन अथवा शिक्षा मेरे लिए हितकर है। वास्तव में ऐसे विनीत, बुद्धिमान शिष्य को शिक्षा देते या अनुशासन करते वक्त गुरु वैसे ही प्रसन्न होते हैं, जैसे प्रशिक्षित और भद्र अश्व पर सवारी करता हुआ घुड़सवार प्रसन्न होता है।

किसी की आशातना नहीं करना और योग्य व्यक्तियों का बहुमान करना विनय है। जिसमें विवेक-युक्त विनय की ऐसी चेतना जागृत हो जाती है, ऐसे विनयवान मनुष्यों की महिमा कैसे होती है—यह 'धर्मरत्न प्रकरण' नामक ग्रंथ के प्रथम अधिकार की निम्नोक्त गाथा से हम जान सकते हैं—

'विणएण णरो, गंधेण चंदण, सोमयाइ रयणियरो।
महु ररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे।।'

अर्थात्—जैसे सुगंध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चंद्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं, वैसे ही विनय के कारण मनुष्य भी आमजनों में प्रिय बन जाता है। ❖

लेकिन इस प्रकार शायद तुम्हारी समझ में सारी बातें न आएं। मैं तुम्हें बताती हूं, कल का दिन कैसे गुजारा है। वैसे ही सब दिन गुजर जाते हैं। फिर तुम सब-कुछ जान जाओगी। यह भी जान जाओगी कि इस घर में मुझे कोई दुख नहीं है। अगर मेरा रंग पहले से पीला हो गया है या मेरी आंखों के आसपास काले-काले चकत्ते उभरने लगे हैं या मैं पहले से कम बोलती हूं तो इस का कोई खास कारण नहीं है। तो सुनो...

कहानी

❑ चक्रवात

❑ दिलीपकौर टिवाणा

प्रिय अमृत,

एक के बाद एक तुम्हारे खत आते रहे। सोचती रही कि जवाब दूं। फिर सोचती रही—क्या जवाब दूं। तुम ने बहुत-कुछ पूछा था। अगर मैं कहूं कि मेरी चिंता न किया करो, तो यह उचित नहीं होगा?

मेरे पिता ने जो घर मेरे लिए ढूंढ़ा है वहां कोई कमी नहीं है। कई बीघे जमीन है, ट्रैक्टर हैं, नौकर-चाकर हैं, छोटा-सा गांव है, जमीन कब्जा लेने या छीने जाने का भी कोई डर नहीं है। फसल इतनी होती है कि रखने की जगह नहीं।

सेवादार या नौकर-चाकर इतने हैं कि कोई भी काम स्वयं करने की आवश्यकता ही नहीं होती।

तुम तो जानती ही हो अमृत कि मायके में मां हमें कभी भी खाली नहीं बैठने देती थी। कहती थी—काम तो मनुष्य के कर्म होते हैं, परंतु इस घर के लोग तो बिना कर्म के ही भाग्यशाली हैं।

'वो' भी खुदा के बंदे बहुत अच्छे हैं। मैं चाहे कुछ करूं या न करूं, कोई आपत्ति नहीं है।

लेकिन इस प्रकार शायद तुम्हारी समझ में सारी बातें न आएं। मैं तुम्हें बताती हूं, कल का दिन कैसे गुजारा है। वैसे ही सब दिन गुजर जाते हैं। फिर तुम सब-कुछ जान जाओगी। यह भी जान जाओगी कि इस घर में मुझे कोई दुख नहीं है। अगर मेरा रंग पहले से पीला हो गया है या मेरी आंखों के आसपास काले-काले चकत्ते उभरने लगे हैं या मैं पहले से कम बोलती हूं तो इस का कोई खास कारण नहीं है। तो सुनो...

सुबह-सुबह नौकर धीरे-से दरवाजा खटखटाता है। किताब को उलट कर रख देते हैं और मेरे सिर पर हाथ फेर कर कहते हैं, 'उठो देवी, चाय पीएं।'

थोड़ा-सा दरवाजा खोल कर मैं नौकर के हाथ से चाय पकड़ लेती हूं। एक कप इन को चाय दे कर, एक खुद ले कर इन के पास ही बैठ जाती हूं। किताब की ओर देखती हूं।

'थोड़ी देर पहले ही उठा था।' वो सफाई देते हैं।

'आगे से मैं रात को ही बत्ती बुझा दिया करूंगी। यह भी कोई बात है, रात को देखो तो किताब, सुबह जागो तब भी किताब।'

'नहीं-नहीं, सुबह-सुबह गुस्सा नहीं करते, तबीअत खराब हो जाती है।' यों हंस कर टाल देते हैं।

'दिल तो करता है सारी किताबें उठा कर बोरी में भर कर नदी में फेंक दूं।'

मुझे खाली कप पकड़ा कर किताब उठाते हुए कहते हैं, 'अच्छा'।

मैं मायूस हो जाती हूं। जब भी मैं कुछ कहती हूं, वो बिना सुने-समझे, बिना ध्यान दिए ही कह देते हैं, 'अच्छा'। मैं जानती हूं कि अगर किसी दिन मैं उन को कहूं कि घर में आग लग गई है, सारा घर जल रहा है तो भी वो किताब पढ़ते-पढ़ते कह देंगे, 'अच्छा'।

मैंने गुस्से में किताब पर हाथ रख दिया। किताब से नजरें हटा कर वो चुपचाप मेरी ओर देखते रहे। पता नहीं मेरे चेहरे से क्या पढ़ रहे थे कि मैंने घबरा कर किताब से हाथ उठा लिया। वो धीरे-से हंस पड़े।

'सुनो!' मैंने कहा।

'कहो?'

'नहीं, किताब छोड़ कर सुनो।'

'हां, कहो!' उन्होंने किताब से नजरें हटाते हुए कहा।

'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक दिन आप कोई भी किताब न पढ़ो?'

'तुम कहोगी तो नहीं पढ़ूंगा, पर फिर सारा दिन करूंगा क्या?'

'सब लोग क्या करते हैं?'

'सब! क्या ये आवश्यक है कि जो सब लोग करते हैं वही मैं करूं?'

मैं उन के इस प्रश्न में उलझ जाती हूं। एक दिन पहले भी वो मुझे कह रहे थे, 'यह सब लोग किन झमेलों में पड़े हुए हैं? यह सब भाग-दौड़ किसलिए है?'

'आज हम गुरुद्वारे चलेंगे।' मैं जरा गुस्से से कहती हूं।

वो मेरी ओर देख कर हंस पड़ते हैं। मेरा चेहरा गंभीर ही बना रहता है।

'क्या मांगने जाना है भगवान से!' वो पूछते हैं।

'मांगने नहीं, बल्कि उसका धन्यवाद करने जाना है कि उस ने मुझे देवताओं जैसा पति दिया है।'

'धन्यवाद करने या यही शिकायत करने?'

'शिकायत! कैसी शिकायत!

'देवता तो दूसरी दुनिया में रहते हैं, इस धरती के दुख-सुख के साथ उनका कोई लेना-देना नहीं होता।'

'अगर धन्यवाद करने ही जाना है तो मुझे क्यूं साथ ले जाना चाहती हो?'

'क्या तुमने भगवान का धन्यवाद नहीं करना कि तुम्हें ऐसी पत्नी मिली है?' मैंने मजाक में कहा।

'मैं तो पत्नी का ही धन्यवाद करना चाहूंगा। कभी-कभी तो सोचता हूं कि अगर तुम्हारे स्थान पर कोई और औरत होती तो मेरा क्या होता।'

'तुमने तो किताबें ही पढ़ते रहना था, क्या फर्क पड़ता है पत्नी चाहे कोई भी होती।'

'नहीं-नहीं ऐसे न कहो देवी। तुम नहीं जानतीं—तुम नहीं जानतीं—' कहते-कहते वह दूर कहीं खो जाते हैं।

मैं जानती हूं वह क्या सोच रहे हैं—वह दिन—दिन-ढले एक बूढ़ा आदमी लकड़ी के सहारे चलता-चलता बैठक में आता है और कहता है—तुम ना न करना, लड़की की मां नहीं है, बाप नहीं है, मेरा भी क्या भरोसा है। उन्होंने उस वृद्ध की ओर ध्यान से देखा और कह दिया, 'ठीक है।' 'जीते रहो बेटा,' कह कर वह वृद्ध कांपते हाथों से कंधा थपथपाता है और अपनी पगड़ी के सिरे से आंखें पोंछते-पोंछते बाहर जा कर तख्ते की ओट से खड़ी उस की मां को खबर सुनाता है। वह भगवान का लाख-लाख धन्यवाद करती है। 'वह तो मानता ही नहीं था। कहता था, मैंने विवाह नहीं करना; शुक्र है, शुक्र है भगवान का—'

'मुझ पर रहम खा कर विवाह तो कर लिया था। अब मुझ पर रहम खा कर अपना खयाल भी रखा करो।' मैं उन को झिंझोड़ कर कहती हूं।

'ऐसा न कहो। रहम नहीं किया था। सोचा था, मेरा जीवन तो फालतू है ही शायद तुम्हारा ही कुछ संवर जाए।'

'आज हम जगमोहन के घर चलते हैं।' मैंने बात बदलने के लिए कहा।

'काम है कोई?'

'नहीं, वैसे ही।'

'ठीक है, सारा-कुछ हम वैसे ही तो करते हैं। वैसे ही पैदा हो जाते हैं, वैसे ही जीते हैं, वैसे ही...'

'और किताबें भी तो वैसे ही पढ़े जाते हैं।' मैंने बीच में ही टोक दिया।

'हां, वैसे ही पढ़े जाते हैं, शायद!' कहते-कहते वे कुछ खो-से जाते हैं।

मैं तोलिया उठा कर नहाने चली जाती हूं। नहाते-नहाते मैं मन के आईने में देख लेती हूं कि वो खूंटी से उतार कर कोट पहनते हैं, पलंग के नीचे से चप्पल निकालते हैं, पगड़ी पहनते हैं और सैर के लिए निकल जाते हैं। अपने-आप से ही बतियाते हुए वह सूनी राहों पर सैर के लिए जाएंगे। मन चाहा तो कहीं रुक कर किसी पेड़ से पूछेंगे, 'सुनाओ यार, कैसे कट रही है?' फिर अपने खेतों की ओर मुड़ जाएंगे। फावड़ा ले कर कभी पानी बांधने और कभी छोड़ने लग जाएंगे तो कभी चालक को उतार कर खुद ट्रैक्टर चलाने लग जाएंगे। चालक बहुत कहता है, 'आप रहने दीजिए' परंतु वो किसी की सुनते ही नहीं, कभी उन के साथ खेत गोड़ने लग जाएंगे। इन के सामने चाहे लोगों के पालतू जानवर खेत में घुस आएं 'वो' न तो पशुओं को बाहर निकालेंगे और न ही चालक को कुछ कहेंगे। कहते हैं, एक दिन चार-पांच हाथ लंबा काला नाग सरकता-सरकता उन

की ओर चला आ रहा था, वो आराम से बैठे उस की ओर ताकते रहे। चालक ने देख लिया। वह सांस रोके खड़ा मन-ही-मन भगवान को याद करता रहा। उस ने घर आ कर मांजी को बताया तो वह उस दिन सवा सेर का प्रसाद चढ़ा कर आई।

नहा-धो कर मैं चादर काढ़ने बैठ गई। मांजी बोली, 'बहू, ये तूने कैसे कपड़े पहने हुए हैं, कोई ढंग के कपड़े नहीं पहन सकती हो और गहने क्यों उतार दिए हैं? ये बदशगुनी है। मेरा तो एक ही बेटा है, उस के साथ ही मेरी दुनिया है। बच्चों को उदास देख कर मां-बाप खुश हो सकते हैं क्या? भगवान की दया से हमारे यहां क्या कमी है। उठो कोई अच्छा-सा रंगदार सूट पहनो।'

मैं अंदर आ कर गुलाबी रंग का सूट पहन लेती हूं। मैं जानती हूं कि वो यह देख कर अवश्य कहेंगे, 'ये तुम क्या नई-नवेली दुल्हन-सी बनी-सजी फिर रही हो?'

बाहर आकर मैं आलू छीलने बैठ जाती हूं। मांजी किसी के घर अफसोस जाहिर करने गई हैं, क्योंकि उनके बेटे का स्वर्गवास हो गया है।

हमारे ट्रैक्टर चालक की पत्नी बचनी घर बुहारती-बुहारती बातें करने बैठ जाती है, 'बहूजी, आठ दिन हो गए लड़के को बुखार में तपते हुए। चार पैसे पल्ले हों तो कहीं शहर ले जा कर डॉक्टर को दिखा दूं। सारी रात उस का बदन भट्टी की तरह जलता है। सारी रात नींद कहां आती है! सोचा था, मांजी से कहूंगी, लेकिन फिर सोचा, वो कहेंगी, 'इस का तो नित नया सवाल खड़ा रहता है। अभी पिछले महीने भी तो रुपए लिए थे, जब बहू ठीक नहीं थी। मार लिया इस दुनियादारी ने! दिल तो चाहता है इन सब से मुंह मोड़ कर कहीं भाग जाएं।'

मैं उस को चार रुपए दे देती हूं। वह सब की आंख बचा कर दुपट्टे के पल्ले से बांध लेती है और आंखें पोंछती हुई जल्दी-जल्दी काम निपटाने लग जाती है।

उस के बाद किश्नी नाइन बर्तन मांजते-मांजते कहती है, 'बहूजी, नौकरों को इतना सिर नहीं चढ़ाना चाहिए। इन को तो रोज हाथ फैलाते हुए शर्म नहीं आती है।'

'उस का बेटा बीमार है।' मैंने कहा।

'तो! फिर पैदा न करती इतने बच्चे। छोटा परिवार हो तो गुजारा हो भी जाए। अब देखो ना, बुने हुए खेस जुलाहे के पास पड़े हैं और बच्चे रात को ठंड में ठिठुरते हैं, पर मुझे तो किसी से मांगते हुए शर्म आती है भई...'

'तुम भी ले जाना खेसों की बनवाई।' मैंने कहा।

'जीती रहो बहू। भगवान तुम्हारा भाग्य चमकाए। एक औलाद दे, तुम्हारी भी जड़ हरी हो जाए...'

अम्माजी को आती देख कर किश्नी नीचे मुंह करके बर्तन धोने में ऐसे मगन हो गई जैसे वह मेरे साथ बात ही नहीं कर रही थी।

मांजी ने बाहर खड़े हो कर ही बहू को आवाज लगाई। पानी मंगवाया, दूसरे कपड़े मंगवाए। नहा-धो कर और कपड़े बदल कर चूल्हे-चौके के पास आईं।

दोपहर का खाना लेने आया लड़का खेत से खाना वापस ले आया था। कहता था उन्होंने नहीं खाया।

मांजी को गुस्सा आ गया। बोलीं, 'खून पी लिया उस ने तो मेरा! सारा दिन भूखा काम में जुटा रहता है। जा, जरा बुला कर ला पहले, फिर ले कर जाना रोटी। कहना, मांजी बुला रही हैं।'

लड़का लौट गया। दोपहर के खाने का वक्त निकल गया था जब 'वो' घर आए।

गुस्से में भरी मांजी कुछ न बोलीं। रोटी थाली में डाल कर अंदर भेज दी।

'तुम ने सुबह खाना लौटा दिया था, मांजी गुस्सा कर रही थीं।' मैं ने कहा।

'मन नहीं किया खाने को। मन तो अब भी नहीं है।' कह कर वह नहाने चले गए। कितनी ही देर बाद नहा कर आए।

'रोटी खा लो।' मैंने मिन्नत की।

'रोटी के लिए इतना भावुक होने की क्या आवश्यकता है। रोटी आखिर जीने के लिए ही खाते हैं न!' कहते हुए उन्होंने रोटी वाला थाल उठा कर दूर रख दिया।

'मांजी को पता लगा तो वह बहुत दुखी होंगी।' मैंने कहा।

'कोई बात नहीं।' उन्होंने बड़ी सहजता से कहा।

'कोई अपनी मां को भी दुखी करता है?'

'मां? कितनी अजीब बात है, मुझे तो लगता ही नहीं है कि वह मेरी मां है। या यह मेरा घर है।'

'क्या मैं भी तुम्हें अपनी पत्नी नहीं लगती?'

'कभी-कभी सोचता अवश्य हूं कि तुम कौन हो? यहां कैसे पहुंच गईं। तुम क्या सोचती हो? कैसे जी रही हो? क्या सोच कर जी रही हो?'

'क्या यह सोचना जरूरी है?' मैं हंस कर पूछती हूं।

एक पल वो मेरे चेहरे को टकटकी बांध कर देखने लगते हैं। फिर कहते हैं, 'यह जो तुम्हारी हंसी है, क्या सचमुच की हंसी है। बहुत कठिन है, इस तरह से हंस पाना।'

'मैं कुछ दिनों के लिए मायके जाना चाहती हूं।' उन को पलंग पर लेट कर किताब उठाते देख कर मैंने कहा।

'अच्छा।' उन का उत्तर था।

'मुझे लगता है कि अगर मैं कहूं कि मैं मरना चाहती हूं आप फिर भी कहोगे, 'अच्छा'।'

वह काफी देर मेरी ओर देखते रहे। फिर बोले, 'यह खयाल बुरा नहीं है, अगर मरना ही है तो हम दोनों इकट्ठे ही मर जाते हैं।'

'आप क्यों मरना चाहते हैं?' मैंने पूछा।

'मैं जीना भी क्यों चाहूंगा?' उन्होंने कहा।

'छोड़ो ये बेकार की बातें', कह, मैं रोटी की थाली रसोई में रखने चली गई।

रोटी वापस लाते देख कर मांजी ने पूछा, 'तबीअत तो ठीक है न उस की!'

'तुम कौन-सा उस का खयाल रखती हो। इस उम्र में न जाने उसे कौन-सा गम खाए जा रहा है। इस के पिता ने मरते वक्त सौगंध दिलाई थी कि कभी शराब नहीं पिएगा। उन की भी मृत्यु अधिक शराब पीने के कारण हुई थी। अगर उस का दिल करता हो तो उस को कहना शहर घूम आए। क्या सारा दिन पोथियों के साथ सिर खपाई करता रहता है। बहू तुम तो उस का ध्यान रखा करो?'

लेकिन अमृत मेरी समझ में नहीं आता, मैं कैसे उन का ध्यान रखूं? सिर ढक कर मैं अंदर आ गई।

'शाम को हम शहर चलेंगे, आप के कुछ कपड़े लाने हैं।' उन को चुपचाप छत की ओर ताकते देख कर मैंने कहा।

'कपड़े...तुम ही ले आना। कपड़ों से क्या होता है?' वह मेरा हाथ पकड़ कर बोले।

'किस से होता है?' मैं झुंझला कर कहती हूं।

'होता तो किसी भी चीज से कुछ नहीं है। सब-कुछ बेकार है, बकवास है।' वह दूर खयालों में झांकते हुए बोले।

मैं बहुत उदास हो जाती हूं।

कितनी देर बाद वह खयालों की दुनिया से लौटते हैं। मेरे चेहरे की ओर देख कर कहते हैं, 'हम मुंबई चलेंगे।'

मुंबई का नाम सुनते ही कई फिल्मी सितारों के चेहरे मेरे जेहन में घूम गए। 'क्या करने?' मैंने पूछा।

'समुद्र देखने।' उन्होंने कहा।

मैंने ध्यान से उन की तरफ देखा। वह दूर कहीं समुद्र में ही गुम हो गए मालूम हो रहे थे।

'सुनो!' मैंने उनको आवाज लगाई।

'कहो!'

'थोड़ी देर आराम कर लो।' 'अच्छा' कह कर वह दीवार की ओर मुंह करके लेट गए। मैं सोचती रही, हमारा क्या होगा?

फिर चुपके-से उठी। बाहर जाकर चादर काढ़ने लगी। आधा घंटा भी नहीं हुआ था कि वह बाहर आकर बोले, 'क्या कर रही हो?'

'चादर काढ़ रही हूं।'

'नहीं, तुम अंदर आ जाओ। तुम मेरे पास ही रहा करो। क्या करना है चादरें काढ़ कर!' वह बोले।

मैं हंस पड़ी।

'नहीं हंसने वाली बात नहीं है। तुम जब मेरे पास नहीं होती हो, मेरा दिल न जाने क्यों घबराने लगता है।'

'चलो हटो!' मैं उठ कर खड़ी हो गई।

वो लेट गए। मैं सिरहाने बैठी थी। एकाएक उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया और हाथ पकड़े-पकड़े ही सो गए।

करीब आधे घंटे बाद अचानक हड़बड़ा कर उठ बैठे। अजीब-अजीब निगाहों से इधर-उधर देखते हुए बोले, 'मैं सपना देख रहा था, जैसे मैं आकाश में उड़ रहा हूं। चारों ओर आकाश-ही-आकाश है, और कुछ भी नहीं। न धरती, न सितारे, न चांद, न सूरज, न मनुष्य, न घर और न ही तुम। मैं डर गया था कि सब-कुछ कहां चला गया। डर से नींद खुल गई। जरा एक गिलास पानी देना।'

मैंने पानी दे दिया।

'एक गिलास और दो।'

एक गिलास और दे दिया।

शाम को नौकरानी ने आकर बताया कि अमरजीत का पति आया है और बैठक में उनका इंतजार कर रहा है।

वे अमरजीत के पति से मिलने बैठक की ओर चले

गए। मैं जानती थी, अब रात को देर से ही अंदर आएंगे। क्योंकि वही एक ऐसा व्यक्ति है जिसके पास वह इतनी देर तक बैठ सकते हैं। कई बार इसके साथ झगड़ पड़ते हैं कि तुम्हारे जैसे लोग दुनिया में आए न आए एक बराबर। परंतु फिर भी वे उस की बातें बड़े ध्यान से सुनते हैं। समय-असमय उस की सहायता भी करते हैं और कह देते हैं, 'ठीक है यार, तुम्हारे पास जीने के लिए कोई बहाना तो है।' आज भी वह रात देर तक बातें करते रहे। यह सोच कर कि इस आदमी के साथ न जाने कौन-सी मुलाकात आखिरी मुलाकात हो। वे उसे बहुत चाहते हैं।

रात आधी से अधिक गुजर चुकी थी जब वह अंदर आए।

'जाग रही हो क्या?' उन्होंने पूछा।

'कहो!' मैंने कहा।

'कुछ खास नहीं...हम छत पर चलें क्या?'

'इतनी ठंड में?' मैंने पूछा।

'तारे देखेंगे।'

'अच्छा।' मैंने कहा।

ऊपर जा कर वे एक ईंट का तकिया बना कर जमीन पर ही लेट गए। मैं भी पास ही बैठ गई।

तारों की ओर देखते हुए उन्होंने कस कर मेरा हाथ थाम लिया। बोले, 'मुझे छोड़ कर न चली जाना कहीं!'

'क्या बात है?' मैंने हैरान होकर पूछा।

'पता नहीं...पता नहीं...मैं तो बस इतना ही जानता हूं कि यहां मेरा कोई नहीं है, इस दुनिया में। हम बहुत अकेले हैं यहां...'

उन्होंने आंखें बंद कर कांपती आवाज में कहा।

'सुनो!' मैंने उन के माथे पर हाथ रखते हुए कहा।

'हां।' वह बोले!

'चलो, नीचे चल कर कुछ पढ़ लो।' मैंने कहा।

'अच्छा।' कह कर वे मेरे साथ नीचे आए, बिस्तर पर लेट कर किताब उठा ली।

मैं पास ही आंखें बंद करके लेटी न जाने क्या-क्या सोचती रही।

'सुनो देवी, सोने से पहले नींद वाली गोलियों की शीशी मेरे पास रख देना।' उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रख कर कहा।

मैंने उठ कर शीशी ला कर रख दी।

बहुत देर तक मुझे नींद नहीं आई। और फिर न जाने कब मैं सो गई। वह शायद सारी रात पढ़ते रहे। गोली खा कर भी शायद उन को नींद नहीं आई।

ऐसे ही दूसरा दिन निकल आया। ऐसे ही तीसरा दिन आ जाता है, फिर चौथा, फिर पांचवां, फिर छठा।

इसीलिए, मैं तुम्हें कहना चाहती हूं प्यारी अमृत, तुम मेरे बारे में चिंता न किया करो। चिंता करने वाली कोई बात नहीं है।

मेरे पिता ने मेरे लिए जो घर ढूंढ़ा है, वहां किसी चीज की कमी नहीं है। इतनी-सारी जमीन-जायदाद है, ट्रैक्टर हैं, नौकर-चाकर हैं, फसल इतनी होती है कि रखने के लिए जगह नहीं है।

फिर भी अगर मेरा चेहरा पीला हो गया है या मेरी आंखों के इर्द-गिर्द चकत्ते उभरने लगे हैं या मैं पहले से कम बोलती हूं तो इस की कोई खास वजह नहीं।

स्नेह सहित तुम्हारी,

सुखजीत

❖

पंजाबी से अनुवाद : **मनजीतकौर भाटिया**

सुखी रहना चाहते हो तो यह खयाल दिल से निकाल फेंको कि जो कायदे चले आ रहे हैं, वह ठीक हैं; जो रिवाज चले आ रहे हैं, वह भले हैं; जो पुरानी किताबों में लिखा है, वही आज भी ठीक है; बेशक वह जमीर की, अंतरात्मा की, कसौटी पर कसी चीजें हैं, पर तुम्हारी कसौटी पर नहीं। अगर तुम्हारी कसौटी पर ठीक उतरें तो अपना लो। फिर वह तुम्हारी हैं, तुम्हारी होकर रहेंगी, तुम्हें सुख देंगी। यही राह सुख को गई है।

—महात्मा भगवानदीन

हर्षदेव माधव की कविताएं

•

अस्तित्वग्रहण

तुम हो वहां
मुक्ति है वहां। वहां है
सूर्य की धूप। वहां हो सकती है
रम्य प्रकाश की सृष्टि। होगा वहां
वरेण्य कोई आभामय वातायन
होगा वहां भाषारहित प्रेम
ऐश्वर्य का द्युलोक होगा वहां
वहां तुम हो।
वहां तुम्हारा
पारिजात-सा चिकना
रूप होगा।

बीच में भाग्य है
परंपरा है जन्म-जन्मांतरों की
भ्रम है प्रवंचन की तरह
दुर्वासा का शाप है
जल है लंका के सागर का
वियोग की छाया है, और अविद्या
देह का कारागृह है।

यहां है
छाया के साथ
व्यथा
पुलिन सरिताओं का
निःस्तब्ध चेतना
श्याम एकांत
सांस-भर जीवन।

•

भूकंप के बाद

उस के बाद
मेरे ह्रदय में भी
विवर बन गए
मेरे धैर्य के भी
टूट-टूट कर
गिरे शिखर
मिल गए धूल में।
मेरा मन भी टुकड़े-टुकड़े हो कर
नष्ट हुआ
मेरी संवेदना नदी
पाताल में प्रविष्ट हुई
मनोरथ खंडहर हुए
मेरा प्रणय
निर्जीव हुए मानवसमूहों के भार तले
दब कर निष्प्राण हुआ

अपना कंपन व्यक्त कर सकती है
धरती
पर मेरे अस्तित्व के भीतर
जो होता है
उसे...उस को...मैं कैसे...कैसे... ❖

संस्कृत से अनुवाद : **राधावल्लभ त्रिपाठी**

शीलन

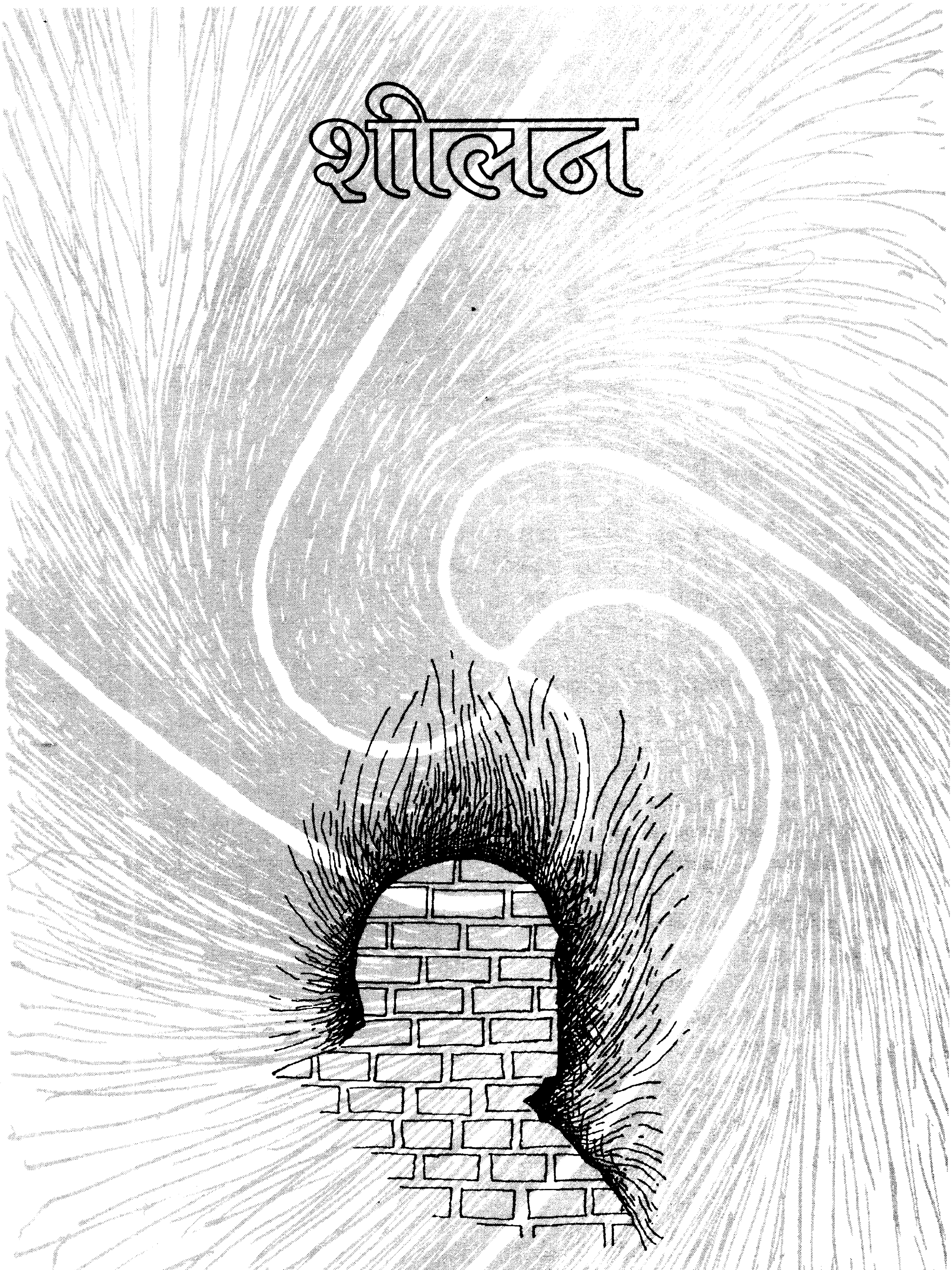

भारत की सांस्कृतिक एकता की चर्चा अक्सर एकांगी दृष्टि से की जाती है। कभी-कभी हम उसे देश की महान शास्त्रीय परंपराओं और विराट् दार्शनिक उपलब्धियों से जोड़ लेते हैं। ये परंपराएं और उपलब्धियां निःसंदेह महत्त्वपूर्ण हैं, परंतु वे देश की संस्कृति का पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। धर्मग्रंथ संस्कृति की धरोहर माने जा सकते हैं, परंतु सामाजिक जीवन उनके पृष्ठों में बंदी नहीं होता। स्थापत्य तथा रूपंकर और प्रदर्शनकारी कलाएं, काव्य और साहित्य भी संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, परंतु संस्कृति का फलक कहीं अधिक विशाल और व्यापक है—उसके अंतर्गत मानव और प्रकृति, मानव और मानव, मानव और रहस्यमय अज्ञात और मानव के अंतर्जगत की गुत्थियों और समस्याओं का समावेश होता है। भारतीय संस्कृति की एकता और विविधता को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है।

—श्यामाचरण दुबे

'अज्ञानं खलु कष्टं'—यह नीतिवाक्य बेशकीमती है, अज्ञान बहुत बड़ा कष्ट है। जितने दुख हैं, उन सबका कारण अज्ञान है। अज्ञान और दुख—दोनों में कारण-कार्य संबंध खोजा जा सकता है। अज्ञान का अर्थ है—जानकारी का अभाव, पर यहां पर अज्ञान से तात्पर्य है—हेय और उपादेय का अज्ञान, यानी विवेक-चेतना का अभाव ही मूल में दुख का हेतु बनता है। यह अज्ञान मोह, प्रमाद, मूर्च्छा को पैदा करता है, जो हमारी चेतना को विकृत करता है। तब व्यक्ति सुख की स्थिति में भी दुखी बनता है, सुख को भी दुख बना लेता है। यह मनोविकार ही दुख का जन्मदाता है।

❑ अज्ञानं खलु कष्टं

❑ समणी मल्लिप्रज्ञा

भारतीय धर्म-दर्शन का प्रासाद मुख्य रूप से चार स्तंभों पर खड़ा है। दुख, दुख-हेतु, दुख-निवृत्ति और दुख-मुक्ति। हर प्राणी चाहता है कि दुखों से छुटकारा कैसे हो? ज्ञान-विज्ञान के उद्भव और विकास का भी रहस्य यही है—किसी भी तरह से प्राणी जगत का दुख कम हो और वह शाश्वत आनंद की ओर प्रस्थान करे।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो कहना होगा कि दुख-मुक्ति का उपाय 'ध्यान' है। इस संदर्भ में प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा आदि की विस्तार से चर्चा करना प्रासंगिक होगा, लेकिन यह चर्चा करने से पूर्व दुख प्रत्यय से जुड़े सभी घटकों को स्पष्ट करना आवश्यक है, क्योंकि दुख का विश्लेषण ही दुख-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा।

दुख क्या

सर्वप्रथम इस तथ्य को समझना जरूरी है कि सुख-दुख कहीं बाहर से नहीं आते हैं। व्यक्ति की अपनी मनोदशा ही दुख पैदा करती है। बाह्य साधनों की अनुकुलता सुखानुभूति में निमित्त बनती है। दार्शनिकों ने भी कहा है—'अनुकूलवेदनीयं सुखं, प्रतिकूलवेदनीयं दुखं'। पातंजल योग दर्शन में भी दुखादि का स्वरूप बतलाया गया है—'दुखानुशयी द्वेषः सुखानुशयी रागः'—अर्थात् दुख द्वेष का निमित्त है, इसलिए सबको यह अप्रिय लगता है। हालांकि राग-मूलक सुख भी दुख ही है, लेकिन व्यक्ति मूर्च्छा के कारण उस सचाई को दुख नहीं मानता है।

विभिन्न धर्म-दर्शनों में दुख को मिथ्यात्व, आश्रव, अविद्या, माया आदि तत्त्वों के विश्लेषण द्वारा समझाया गया है। अध्यात्म जगत में भी इस विषय पर विस्तार से चर्चा मिलती है। यह भी कहा जाता है कि 'पराधीनं महादुखं, स्वाधीनं महासुखं।' पदार्थों की परवशता दुख है, जबकि आत्मनियंत्रण या स्वावलंबन महान सुख का सर्जक है। पदार्थसापेक्ष सुख असीम नहीं होने के कारण वह दुख का ही हेतु बनता है। जब कोई वस्तु एक समय-सीमा के बाद हमसे अलग होती है, तब व्यक्ति सोचता है—यह कैसे हो गया, क्योंकि वह पदार्थ के स्वभाव को नहीं जानता। भगवान महावीर से जिज्ञासा की गई—दुखी कौन है? दुख कौन पैदा करता है? भगवान महावीर ने समाधान दिया—'जावंत असुविज्जा पुरिसा सव्वे ते खलु दुख संभवा'—अज्ञानी पुरुष निश्चित ही दुख को पैदा करता है। वास्तव में दुख के अनेक हेतुओं की चर्चा की गई है। दुख का मूल कारण बनता है—व्यक्ति का अज्ञान। शेष सारे हेतु इसी धुरी की परिक्रमा करते प्रतीत होते हैं।

'अज्ञानं खलु कष्टं'—यह नीतिवाक्य बेशकीमती है, अज्ञान बहुत बड़ा कष्ट है। जितने दुख हैं, उन सबका कारण अज्ञान है। अज्ञान और दुख—दोनों में कारण-कार्य संबंध खोजा जा सकता है। अज्ञान का अर्थ है—जानकारी का अभाव, पर यहां पर अज्ञान से तात्पर्य है—हेय और उपादेय का अज्ञान, यानी विवेक-चेतना का अभाव ही मूल में दुख का हेतु बनता है। यह अज्ञान मोह, प्रमाद, मूर्च्छा को पैदा करता है, जो हमारी चेतना को विकृत करता है। तब व्यक्ति सुख की स्थिति में भी दुखी बनता है, सुख को भी दुख बना लेता है। यह मनोविकार ही दुख का जन्मदाता है।

मन की निर्मलता के लिए ध्यान जरूरी है। इस अज्ञान को ध्यान से दूर किया जा सकता है। फिर दुख भी सुख का निमित्त बन सकता है। इस अज्ञान के कारण व्यक्ति अनित्य को नित्य, दुख को सुख आदि मानकर व्यवहार करता है।

मूर्च्छा से ममत्व बढ़ता है। ममत्व से दुख होता है। ममत्व है मेरापन का भाव। ममत्व बुद्धि से व्यक्ति संग्रह करता है। जब उसका वियोग होता है, तब उसे दुख होता है। संबोधि में भी कहा है—'कामानुगृद्धि प्रभवं हि दुःखं, सर्वस्य लोकस्य सदेवतस्य। यत्कायिकं मानसिकञ्च किञ्चित्, तस्यान्तमारनोति च वीतरागः।।'

आदमी दुख चाहता नहीं, लेकिन दुख भोगता है। इसके दो कारण हैं—आदत और असाता वेदनीय कर्म। बीस वर्ष पहले किसी ने दो शब्द कह दिए। कहने वाला रहा नहीं। उन शब्दों की स्मृति जब-तब दुख का पहाड़ खड़ा कर देती है। यह है आदतन दुख। बाह्य सुख-सुविधा के बावजूद यह दुख बना रहता है।

दुख और समस्या एक नहीं हैं। कोई भी व्यक्ति समस्या पैदा कर सकता है, पर दुखी नहीं बना सकता। दुख की दो अवस्थाएं होती हैं—दुख बाह्य जगत का संवेदन है। हमारा स्वरूप आनंदमय है, सुखमय है। हमारा स्वरूप दुखमय नहीं है। दुख थोपा हुआ है, आरोपित है, निर्मित है। दुखी वह बनता है जो समस्या को स्वीकार कर लेता है, इसलिए समस्या व दुख को एक मानने की भूल व्यक्ति के दुख का बहुत बड़ा हेतु बनती है।

महर्षि पतंजलि ने विक्षेप का पहला परिणाम बतलाया है—दुख। दुख का एक बड़ा कारण है—मन की चंचलता। मन की चंचलता का हेतु है—क्रोध, मान, माया, लोभ। जब ये मन को विकृत करते हैं, तब दुख का भार बढ़ने लगता है। अमन से इस दुख का अंत संभव है, अमन की स्थिति का निर्माण ध्यान से होता है।

एक आत्मसाधक लिखते हैं—चाह ही दुख है। हमारी असीमित इच्छाएं दुख को खुला आकाश देती हैं। नीतिकार के अनुसार—'तृष्णार्ति प्रभवं दुःखं।' इसी तृष्णा से चाह, इच्छाएं पैदा होती हैं। वे व्यक्ति को दुखी बनाती हैं। तृष्णा से जनित दुख के दरवाजे को 'संतोषरूपी चाबी' से ही बंद किया जा सकता है। उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि दुख बाहर नहीं, उसका कारण व्यक्ति की अपनी मानसिक और गलत वैचारिक सोच है। वैचारिक गलत सोच है—मोहयुक्त चेतना की मलिनता। यह भी कहा जा सकता है कि दुख बाह्य नहीं, हमारे अपने भीतर विद्यमान मूर्च्छा है, आसक्ति है। इन मुख्य हेतुओं के साथ-साथ कुछ व्यावहारिक कारण भी दुख के निमित्त बनते हैं। दुख को कम करने में उनकी जानकारी भी सहयोगी बन सकती है। दुख का एक कारण है—'क्यों?' 'क्यों' के साथ दुख खड़ा होता है। दुख नासमझी के कारण भी होता है। हम भूल जाते हैं—अनित्यता के विधि-विधान को। सब-कुछ परिवर्तनशील है। उसे स्थाई बनाने की नासमझी दुख का हेतु बनती है।

दुख के प्रकार

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने दुख के चार प्रकार बतलाए हैं, जिनमें अनेक भेद-प्रभेदों का समावेश किया जा सकता है। चार प्रकार के ये दुख हैं—1. कल्पनाजनित दुख, 2. अभावजनित दुख, 3. वियोगजनित दुख, 4. परिस्थितिजनित दुख।

कल्पनाजनित दुख : मनुष्य मन से अतीत की स्मृति व भविष्य की अति-कल्पना से दुख की रचना करता है। निर्विकल्प ध्यान से इस दुख की समाप्ति संभव है।

अभावजनित दुख : रोटी, कपड़ा व मकान के अभाव से भी व्यक्ति दुख भोगता है। अभाव होना अलग बात है, दुखी होना बिल्कुल अलग बात है। दुख अभाव से नहीं, अज्ञान से दुख होता है। साधु-संन्यासी अभाव में जीते हैं, पर दुखी नहीं होते। क्योंकि ध्यान से दृष्टि का सम्यक् परिष्कार हो गया। तब गरीबी या अभाव दुख पैदा नहीं करता।

वियोगजनित दुख : यह संसार संयोग-वियोग का मेला है। व्यक्ति जब भी किसी स्वपरिजन से मिलता है, ममता के कारण संबंध बना लेता है, लेकिन उसके साथ जुड़े वियोग के अटल नियम को भूल जाता है। जब संबंध टूटते हैं, उनमें से कुछ पहले-पीछे मर जाते हैं, तब दुख भोगता है। यह दुख हमारी गलत मान्यता से उत्पन्न हुआ। हमने मान लिया संयोग शाश्वत है, इसलिए दुख की गठरी भारी होती गई। लेकिन ध्यान से जब यह यथार्थबोध हो जाता है कि सब-कुछ परिणामधर्मा है, बदलता रहता है, आत्मा के सिवाय न कोई मेरा, न कोई तेरा—तब वियोग होने पर भी दुख नहीं होता है। इसलिए जहां वियोग है, वहां दुख हो ही, यह जरूरी नहीं। इस प्रकार की निर्लिप्त चेतना के निर्माण के लिए निरंतर ध्यानाभ्यास की जरूरत है।

परिस्थितिजनित दुख : प्रायः प्रतिकूलता व दुख को एक मान लिया जाता है। प्रतिकूल परिस्थिति में दुख होना

स्वाभाविक है—ऐसा सर्वसाधारण कथन है, लेकिन प्रतिकूलता व दुख, दोनों साथ ही हों—ऐसा नहीं है। प्रतिकूलता में जब व्यक्ति अपना संवेदन जोड़ देता है, दुख तब पैदा होता है, अन्यथा उसी परिस्थिति में किसी को कम, किसी को ज्यादा या बिलकुल दुख नहीं होता। इसका कारण है व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण।

ध्यान से दृष्टि में बदलाव घटित होता है। मिथ्या दृष्टिकोण ध्यान के प्रभाव से सम्यक् दृष्टिकोण में बदल जाता है। ध्यान का दूसरा लाभ है—अज्ञान मिटता है, मूर्च्छा टूटती है। घटना व दुख अलग-अलग प्रतीत होते हैं। व्यक्ति देखता है, जानता है, लेकिन भोगता नहीं है और इस प्रकार दुखी नहीं होता है। दुख के और भी अनेक प्रकार गिनाए गए हैं। आधिभौतिक दुख—ये पक्षी व मनुष्यजनित दुख हैं। आधिदैविक, प्राकृतिक प्रकोप—अतिवृष्टि, महामारीजनित दुख—इत्यादि।

मोह, क्रोध, काम, मद आदि से उत्पन्न दुखों की भी लंबी शृंखला है। परकृत दुख—युद्ध आदि के दुष्परिणामों से दुखी संसार की घटनाएं इतिहास में भरी पड़ी हैं। स्वकृत दुख—खान-पान का अविवेक, रहन-सहन, असंयत व्यवहार की कटुता, मन की कमजोरियां, व्यसन आदि से भी व्यक्ति नाना प्रकार के दुखों का शिकार बनता है। जन्म-मरण, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि-आदि। दुख के विविध प्रकारों का उल्लेख आगमों में किया गया है—

जम्म, दुखं जरा दुक्खं रोगा या मरणाणियः।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ किसंति जन्तओ।।

दुख एक बहुत बड़ी समस्या है, यह सब जानते हैं। हर युग में दार्शनिक चिंतकों ने समाधान खोजने का प्रयास किया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मानव समाज को चिंतनपरक उपायों के साथ-साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण का क्रम भी दिया है। प्रेक्षा-चिकित्सा की सही जानकारी तथा उसका अभ्यास करने से व्यक्ति दुख-मुक्ति का मार्ग पकड़ सकता है। वह आत्मिक सुख तथा व्यावहारिक जीवन में संतुलित जीवनशैली को स्वीकार कर दुख पर नियंत्रण रख सकता है।

दुख-मुक्ति के उपाय

चिंतनपरक उपाय—दुख में से सुख खोजते रहें, ऐसी आदत का निर्माण होने पर दुख आएगा, लेकिन वह व्यक्ति को दुखी नहीं बनाएगा। इसी तरह अच्छाई को बढ़ाएं, बुराई घटाएं। दुख कम हो जाएगा। यह भी मानना चाहिए कि दुख व्यक्ति को पाप से बचाता है। दुख पुरुषार्थी बनाता है। दुख में प्रभुभक्ति अच्छी होती है। दुख में व्यक्ति जागरूक बनता है। दुखद स्थिति में व्यक्ति दूसरों की भलाई के बारे में सोचता है। दुख में घबराएं नहीं, सुख में इतराएं नहीं। दुख सुबह का उषाकाल है, जिसके पश्चात् प्रकाश है। दुख-सुख संसार का नियम है, लेकिन दुखी होना-न होना मेरे अधिकार में है। सुख के क्षण ज्यादा हैं, दुख के क्षण बहुत कम हैं। सांसारिक सुख ओस-बिंदु की तरह क्षणिक है। आत्मिक सुख शाश्वत है। संतोष सबसे बड़ा सुख है। दुख को भूलना ही दुख से दूर होना है। असह्य दुख की स्थिति सुप्त शक्तियों को जगाने का अवसर है। भोग दुख है, त्याग सुख है। 'इमं शरीरं अणिच्चं'—यह शरीर अनित्य है—इस तरह की भावनाओं को पुष्ट करें।

सुख के पांच रास्ते हैं

योगासन : पहला सुख निरोगी काया है। स्वस्थ व्यक्ति सुखी रहता है। इसलिए योगासन सुखकारक सुगम मार्ग है। विनोदी स्वभाव : तनावपूर्ण स्थिति को मुस्कान में बदलने का प्रयत्न करें। निश्चिंतता : चिंता मत करें। पुरुषार्थ के बाद भी यदि यथेष्ट न मिले तो राम भरोसे छोड़ना सीखें। चिंता का भार नहीं ढोएं। तब व्यक्ति सदा सुखी रहेगा। अल्पेच्छा : इच्छाओं का सीमाकरण सुख की चाबी है। परिस्थिति का यथार्थ बोध : अभ्यास से सचाई को यथार्थ में लागू करने का प्रयास करें। सम्यक् दर्शन जितना विशुद्ध होगा, उतना ही सुख का सागर लहराएगा। लक्ष्यप्राप्ति के लिए सही मार्ग का होना बहुत जरूरी है। दुख-मुक्ति का यदि लक्ष्य हो तो ध्यान उसका मार्ग बनता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत-से मार्ग बताए गए हैं, जिनका ज्ञान भी दुख-मुक्ति में सहायक हो सकता है।

दुख-मुक्ति का पहला मार्ग है—गुरुसेवा। इससे व्यक्ति को आत्मज्ञानोपलब्धि होती है और दुख-मुक्त चेतना का विकास हो जाता है। दुख-मुक्ति का दूसरा उपाय है—वृद्धों की सेवा। वृद्ध व्यक्तियों के पास अनुभव का खजाना होता है। उनकी सलाह से व्यक्ति दुख की परिस्थिति को टाल सकता है। सही मार्गदर्शन से दुखों का पार पाया जा सकता है। दुख-मुक्ति का तीसरा उपाय है—बाल से बचना। यहां बाल से तात्पर्य है—कुसंग से बचना। सुसंगति सुख का बहुत बड़ा कारण है। संपर्क से व्यक्ति बनता भी है और बिगड़ता भी है, इसलिए सत्संगति को ध्यान में रखना जरूरी है—इससे दुख कम

होगा। दुख-मुक्ति का चौथा उपाय है—स्वाध्याय। *आत्मिक चिंतन-मनन, निदिध्यासन तथा उच्चकोटि* के सत्साहित्य का पठन-पाठन भी व्यक्ति के दिमाग को सुलझा देता है। तब वह दुःखद परिस्थिति में अपना संतुलन नहीं खोता, सही निर्णय लेकर दुख को टाल देता है। स्वाध्याय के लिए भी पृष्ठभूमि के रूप में उपरोक्त उपायों को अपनाना जरूरी है। दुख-मुक्ति का पांचवां उपाय है—एकांतवास। प्रवृत्ति व निवृत्ति के संतुलन में दुख शांत हो जाता है। निवृत्ति के लिए बाहरी व भीतरी वैचारिक भीड़—दोनों से दूर रहना जरूरी है। एकांतवास से प्रज्ञा का जागरण होता है। जब अंतर्दृष्टि का विकास होता है, तब अज्ञानजनित सभी दुखों का अंत समीप आ जाता है। मंजिल से ज्यादा मूल्य मार्ग का है, यदि मार्ग सही है तो मंजिल स्वतः मिल जाएगी। यह मार्ग आगम में उपलब्ध है—

तस्सेव मग्गों गुरुविद्ध सेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरी।
सज्झाय एगंतनिसेवण्णा य सुत्तत्थं संचितणया धईया॥

सुख प्राप्ति के प्रयोग : प्रेक्षाध्यान

अंतर्यात्रा से अंतर्मुखता बढ़ती है, इससे व्यक्ति का बहिर्मुखी दृष्टिकोण बदलता है। काम-भोगजनित दुख की स्थिति को बदलकर, पदार्थ-निरपेक्ष सुख की स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। इंद्रिय व मन के स्तर से ऊपर उठकर ज्ञान, चेतना के स्तर पर जीया जा सकता है। दृष्टि बदलने से सृष्टि बदल जाती है।

अंतर्यात्रा का प्रयोग : प्रथम विकल्प

चित्त को शांति-केंद्र पर ले जाएं। ऊपर उठाएं, सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञान-केंद्र तक लाएं। फिर उसी मार्ग से शांति-केंद्र तक नीचे लाएं। नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे, सुषुम्ना में चित्त की यात्रा करें। वहां पर होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव करें। पूरी चेतना को सुषुम्ना में समेट लें। एक-दो मिनट के बाद चित्त की (यात्रा की) गति को श्वास की गति के साथ जोड़ें। श्वास छोड़ते समय चित्त को नीचे से ऊपर ले जाएं और श्वास लेते समय चित्त को ऊपर से नीचे लाएं।

दूसरा विकल्प : अभ्यास की परिपक्वता के पश्चात् यह प्रयोग कराएं।

1. चित्त को शांति-केंद्र पर ले जाएं। 2. ऊपर उठाएं, सुषुम्ना के मार्ग से आनंद-केंद्र तक लाएं। 3. फिर उसी मार्ग से नीचे लाएं। सुषुम्ना में चित्त की यात्रा चले। पूरा ध्यान अंतर्यात्रा के पथ पर रहे। 4. आनंद-केंद्र से शांति-केंद्र और शांति-केंद्र पर चित्त की यात्रा चले। वहां होने वाले प्राण के प्रकंपनों का अनुभव करें।

पूरी चेतना को अंतर्यात्रा के पथ में समेट लें। 1. चित्त की गति को श्वास के साथ जोड़ें। 2. श्वास लेते समय चित्त को आनंद-केंद्र से शांति-केंद्र की ओर ले जाएं।

तीसरा विकल्प : पूरी परिपक्वता के पश्चात् यह प्रयोग कराएं। उपर्युक्त विधि से चित्त को शांति-केंद्र से क्रमशः प्रत्येक चैतन्य-केंद्र की यात्रा करते हुए पुनः शांति-केंद्र पर लाएं।

अनित्य अनुप्रेक्षा : यह प्रयोग है आत्मज्ञान का।-यह चिंतनप्रधान विद्या है। इससे मनरूपी घोड़ा वश में हो जाता है, तब वह दुख नहीं देता। अनुप्रेक्षा से तात्पर्य है—अपने विषय में जानना, अपने विषय में सोचना, अपने बारे में अनुभव करना। प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षा का योग होता है। तब मन की चंचलता समाप्त होती है। इससे दुख मिटने लगता है। अनुप्रेक्षा मस्तिष्कीय धुलाई का प्रयोग है। इससे नई आदतों का निर्माण होता है। जो दुख पैदा करने वाली चेतना थी, उसी को अनित्य भावना से भावित करके सुख पैदा करने वाली चेतना में ढाला जा सकता है। बदली हुई चेतना में नए विचार का संचार हो जाएगा कि मैं स्वयं सुख-दुख का कर्ता हूं, दूसरा कोई नहीं। मेरी कषाय व चंचलता-युक्त मनोवृत्ति दुख का कारण तथा राग-द्वेषमुक्त चेतना सुख का हेतु है। मैं सुख का भाव पुष्ट करूंगा/करूंगी। प्रेक्षा व अनुप्रेक्षा से नए दृष्टिकोण का निर्माण होता है। स्थाई सुख का रास्ता मिल जाता है। जिसकी हम सब खोज कर रहे हैं। ❖

प्रकाश और अंधकार—इन दोनों की आपस में जरा भी मित्रता नहीं है। ये दोनों धर्म, सूर्य पर लागू होने पर भी अन्य किसी प्रकाश से अधिक उद्दीपित नहीं होते या अंधकार कम होने पर ढंक नहीं जाता। सूर्य अपनी जगह पर अपनी सूर्यप्रवृत्ति के तेज से वैसा ही रहता है।

—संत ज्ञानेश्वर

जाति के विषय को लेकर के दो विचारधाराएं मिलती हैं। प्रथम परंपरा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जाति' का सिद्धांत प्ररूपित किया गया। जबकि श्रमण परंपरा ने इसको अतात्त्विक बतलाकर कर्मणा जाति पर बल दिया। महावीर ने जातिवाद के विषय में क्रांतिकारी कदम उठाए। महावीर की क्रांति केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने आचार और विचार—दोनों क्षेत्रों में क्रांति की। जिस जाति का आचार-विचार शुद्ध है, सुसंस्कृत है, संयमप्रधान है—वही जाति उत्तम है।

जाति नहीं—आचार का महत्त्व

साध्वी लक्ष्मीकुमारी

जैन दर्शन में जातिवाद को अतात्त्विक माना गया है। भगवान महावीर के समय में जड़ता, अज्ञानता, अकर्मण्यता, हिंसा, जातिवाद और नारी-दासीत्व आदि सामाजिक विकृतियों से समाज जर्जरित हो रहा था। तब जातिवाद के आधार पर ही श्रेष्ठ या निकृष्ट माना जाता था। व्यक्ति की पूजा तब ज्ञान और आचार के आधार पर न होकर, जाति के आधार पर होने लगी थी। ऐसे समय में उत्कृष्ट विचारों के धनी भगवान महावीर ने कहा—

जे असइं उच्चा गोए, असइं नीआ गोए। णो हीणे णो अइरित्ते

एक जीव अनेक बार उच्च गोत्र में उत्पन्न होता है और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म लेता है। इसलिए न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। हम देखते हैं कि महावीर के दर्शन में अनेकानेक समस्याओं के समाधान छिपे पड़े हैं। सामाजिक क्षेत्र में जातपांत, छुआछूत, अमीर-गरीब के भेद को मिटाने वाला अभूतपूर्व दर्शन है—महावीर की वाणी में।

अनेक जातियां

मनुष्य समाज में अनेक प्रकार की जातियां हैं। यह जाति-भेद व्यक्ति का सामान्य ज्ञान कराने में सहायक माना जा सकता है। यहां तक तो ठीक है, किंतु जाति को सब-कुछ मानकर निम्न और उच्च की भेद रेखा जब की जाती है तब उसे उचित नहीं कहा जा सकता। अपने-अपने कर्म के अनुसार ही मनुष्य जातियों में विभक्त होते हैं। जातिवाद को लेकर जो झगड़ा होता है वह वास्तविक तथ्य नहीं कहा जा सकता है। इस व्यवस्था ने भारतीय जन-मानस को कभी एक-दूसरे के निकट नहीं आने दिया। स्नेह, सौहार्द के सूत्र में बंधने नहीं दिया। अखंड मानव जाति के टुकड़े-टुकड़े करके एक-दूसरे के प्रति घृणा, अपमान और तिरस्कार का विषैला वातावरण पैदा करके एक-दूसरे को दूर रखा है। इससे न केवल आध्यात्मिक तथा सामाजिक उन्नति के क्षेत्र में रुकावटें आई हैं, बल्कि राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय समृद्धि के स्वप्न भी जातिवाद के विग्रह में टूटते हुए-से नजर आ रहे हैं। भगवान महावीर ने जातिवाद के ऊपर कड़ा प्रहार किया—

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, खुद्दो हवइ कम्मुणा।।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन, 25 गाथा 31

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

इस श्लोक में जन्मना जाति का अस्वीकार और कर्मणा जाति का सिद्धांत प्रतिपादित है।

सर्वश्रेष्ठ जाति क्या है

हमारे पूर्वजों ने चिंतन दिया कि सत्य, संयम, शौच, शालीनता और सदाचार जिस जाति में हैं—वही जाति सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार के सद्‌गुणों से विभूषित चांडाल ही क्यों न हो, वह उत्तम मानव की श्रेणी में होगा। इसके जरिए ही मनुष्य अपने-आप को पवित्र घोषित कर सकता है। इन सद्‌गुणों के अभाव में पवित्रता की कल्पना करना 'बंध्यापुत्र' सदृश है, फिर चाहे ऊंची जाति का भी क्यों न हो। जाति से उच्च और नीच नहीं, बल्कि व्यक्ति अपने कर्म और आचरण से ही हीन अथवा महान बन सकता है।

महावीर ने कहा है—

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाइ विसेस कोई

यह प्रत्यक्ष तप की महिमा है, जाति की कोई महिमा नहीं। भगवान महावीर के इन विचारों से प्रेरणा लेकर देश में फैली हुई जातीयता, छुआछूत आदि की व्याधियां मिट सकती हैं।

जाति के विषय को लेकर के दो विचारधाराएं मिलती हैं। प्रथम परंपरा में जाति को तात्त्विक मानकर 'जन्मना जाति' का सिद्धांत प्ररूपित किया गया। जबकि श्रमण परंपरा ने इसको अतात्त्विक बतलाकर कर्मणा जाति पर बल दिया। महावीर ने जातिवाद के विषय में क्रांतिकारी कदम उठाए। महावीर की क्रांति केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। उन्होंने आचार और विचार—दोनों क्षेत्रों में क्रांति की। जिस जाति का आचार-विचार शुद्ध है, सुसंस्कृत है, संयम-प्रधान है—वही जाति उत्तम है।

एक व्यक्ति उच्च कुल में पैदा होकर भी यदि उसका चरित्र विशुद्ध नहीं तो वह पवित्र नहीं माना जाता। एक मनुष्य जाति का चांडाल है, किंतु उसका आचरण ऊंचा है, वह तपस्या आदि के द्वारा महान कहलाएगा। अतः किसी को भी महान बनना है तो आचार को विशुद्ध करना परम आवश्यक है। कहा है—'आचारः प्रथमो धर्मः'। सदाचार से ही मनुष्य की कीमत होती है, न कि जाति से। अध्यात्म के क्षेत्र में लिंग, रंग और वर्ण के भेद खड़े करना साधना का उपहास करना है।

महावीर ने धार्मिक क्षेत्र में होने वाले पाखंडों पर प्रहार कर आत्मा की सर्वोच्च सत्ता का दिग्दर्शन कराकर अभिनव क्रांति की। उन्होंने कहा—आत्मा में अनंत शक्ति है। उसमें नर से नारायण बनने की योग्यता छिपी है। मनुष्य की सुषुप्त चेतना, मानसिक गुलामी और आत्महीनता की भावना को महावीर ने अपने चिंतन से दूर किया।

साधना का ध्येय है—मुक्ति। मुक्ति किसकी होती? न स्त्री की, न पुरुष की, न क्षुद्र की, न काले की, न गोरे की। तपःपूत भगवान महावीर की वाणी से यही निकला—मुक्ति होती है आत्मा की। आत्मा—स्त्री या पुरुष नहीं। वह सबकी समान है।

महाभारत में भी यही कहा है—

शूद्रोपि शीलसम्पन्नो, गुणवान ब्राह्मणो मतः

ब्राह्मणोपि क्रियाहीनः, शूद्रादप्यधमो भवेत्।।

अर्थात् चरित्रसंपन्न शूद्र भी ब्राह्मण के तुल्य पूजनीय है। सत्क्रियाहीन ब्राह्मण शूद्र से भी अधम होता है और अधम की श्रेणी में गिना जाता है।

पुराण सुक्तों के अनुसार विश्वामित्र का जन्म चांडाल कुल में हुआ—**चंडाल जाति संभूतो, विश्वामित्रो महामुनिः।**

व्यासजी भी धीवर-पुत्र थे। जगत-विख्यात महापुरुषों के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जाति से व्यक्ति महान नहीं बनता। अच्छे आचरणों से व्यक्ति महान होता है। महावीर का कथन है—आत्मा के साथ लिंग, रंग का भेद जोड़ना अज्ञानता नहीं तो और क्या है?

अतः जीवन-शुद्धि और आत्म-विकास के लिए जातिवाद का कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना आचरण विशुद्ध रखना चाहिए। विकास क्या छोटा, क्या बड़ा, सभी चाहते हैं। इनमें किसको गौण और किसको मुख्य माना जाए? सभी को मुख्य मानना है।

बौद्ध दर्शन के प्रणेता भगवान बुद्ध के शिष्य थेर और सुनीत हरिजन थे। इससे सिद्ध होता है कि साधना के क्षेत्र में जाति को गौण और आचार को प्रमुख स्थान दिया है।

हरिकेशी और मेतार्य मुनि का चरित्र पढ़ते ही जन-जन का मानस जातिवाद को अतात्त्विक सिद्ध कर सकता है। ❖

'काम से, भय से, लोभ से, यहां तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। मैं भुजा उठाकर कह रहा हूं, पर कोई मेरी बात सुनने वाला नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते?'

—महर्षि व्यास

विद्या, बुद्धि और कला-संपन्न व्यक्ति वही होता है, जो सहनशील, नम्र और मधुर व्यवहार वाला होता है। अच्छा व्यवहार दीपक के समान है, जो कइयों को रोशनी प्रदान कर सकता है। दर्पण व्यक्ति के बाहरी रूप को दर्शाता है और व्यवहार व्यक्ति के अंदरूनी रूप को दर्शाता है। हमारा समग्र जीवन व्यवहार रूपी नौका पर टिका हुआ है। अगर व्यवहार अच्छा है तो सारा संसार अपना है। अगर व्यवहार बुरा है तो सारे जहां को छोड़ें, अपने परिवार वाले, आस-पड़ोस वाले भी अपने नहीं बनते। सुख-शांति-पूर्ण जिंदगी हमारे व्यवहार पर निर्भर करती है।

❑ व्यवहार है व्यक्तित्व का दर्पण

❑ मुनि रश्मिकुमार

मनुष्य एक सामुदायिक प्राणी है। वह समुदाय में जीता है। उसे एक-दूसरे के सहारे व सहयोग की अपेक्षा भी होती है। मगर सहारा और सहयोग उसे ही प्राप्त होता है, जो व्यवहारकुशल हो। व्यक्ति का व्यवहार ही उसके उच्च व्यक्तित्व को दर्शाता है। किसी व्यक्ति के साथ हमारा प्रेम-भरा व्यवहार होगा तो वह व्यक्ति हमेशा के लिए हमारा बन जाएगा। किसी के साथ तोड़ना सरल है, पर मधुर व्यवहार बनाए रखना बहुत कठिन है। विद्या, बुद्धि और कला-संपन्न व्यक्ति वही होता है, जो सहनशील, नम्र औरं मधुर व्यवहार वाला होता है। अच्छा व्यवहार दीपक के समान है, जो कइयों को रोशनी प्रदान कर सकता है। दर्पण व्यक्ति के बाहरी रूप को दर्शाता है और व्यवहार व्यक्ति के अंदरूनी रूप को दर्शाता है। हमारा समग्र जीवन व्यवहार रूपी नौका पर टिका हुआ है। अगर व्यवहार अच्छा है तो सारा संसार अपना है। अगर व्यवहार बुरा है तो सारे जहां को छोड़ें, अपने परिवार वाले, आस-पड़ोस वाले भी अपने नहीं बनते। सुख-शांति-पूर्ण जिंदगी हमारे व्यवहार पर निर्भर करती है।

एक व्यक्ति शांति-सुख की खोज में एक गांव से दूसरे गांव आया, आकर वहां बैठे एक बड़े-बुजुर्ग व्यक्ति से उसने पूछा—'महाशय! इस गांव के लोग कैसे हैं? यहां का रहन-सहन कैसा है?' बुजुर्ग व्यक्ति अनुभवी था। शक्ल देख कर ही वह कुछ भांप गया। उसने उस व्यक्ति को पूछा—'तुम जिस गांव से आ रहे हो, उस गांव के लोग कैसे हैं?' उस व्यक्ति ने जवाब दिया—'बड़े ही बुरे लोग बसते हैं—उस गांव में। दिन-भर लड़ाई-झगड़ा करते हैं, प्रेम नाम की कोई चीज नहीं है उनमें।' यह बात सुन अनुभवी बुजुर्ग ने उत्तर दिया—'इस गांव के लोग तो उस गांव के लोगों से भी ज्यादा बुरे हैं।' वह व्यक्ति अपना-सा मुंह लेकर आगे चला गया।

उसके ठीक थोड़ी देर बाद एक व्यक्ति और आया, उसने भी उस बुजुर्ग व्यक्ति से वही बात पूछी। बुजुर्ग व्यक्ति ने कहा—'तुम जिस गांव से आ रहे हो, वहां के लोग कैसे हैं?' उस व्यक्ति ने कहा—'बहुत अच्छे लोग हैं—उस गांव में। उनमें परस्पर प्रेम है, सब मिलजुल कर रहते हैं।' बुजुर्ग व्यक्ति ने उसकी बात सुनकर कहा—'इस गांव के लोग उनसे भी बहुत अच्छे हैं।' वह व्यक्ति उस गांव में आकर रहने लगा।

कहानी का सार यह है—जिस व्यक्ति का व्यवहार जैसा होता है, उसे सब लोग उसी प्रकार के दिखाई देते हैं।

महाभारत की बात है—श्रीकृष्ण ने दुर्योधन और युधिष्ठिर को एक-एक कागज हाथ में देते हुए पहले दुर्योधन से कहा—तुम द्वारिका नगरी में जाओ और जितने भी अच्छे व्यक्ति हैं, उनकी सूची बनाकर मेरे पास लाओ। भगवान कृष्ण ने फिर युधिष्ठिर से कहा—तुम बुरे व्यक्तियों की सूची बनाकर मेरे पास लाओ। दोनों द्वारिका गए। थोड़ी देर बाद में दोनों ही खाली कागज लेकर श्रीकृष्ण के पास आए। कृष्ण ने दुर्योधन से पूछा—'तुम्हें अच्छे व्यक्तियों की सूची बनाकर लाने को कहा था और तुम खाली कागज ही ले आए!' तब दुर्योधन ने कहा—'आपके द्वारिका में अच्छे व्यक्ति हैं ही नहीं, सबमें कोई-न-कोई बुराई है।' तब कृष्ण ने युधिष्ठिर से पूछा—'तुमने भी सूची नहीं बनाई?'

युधिष्ठिर ने विनम्रता से कहा—'महाराज! आपके द्वारिका में मुझे कोई बुरा व्यक्ति मिला ही नहीं। हर-किसी व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अच्छाई है। इसलिए मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका।'

हमारे व्यवहार के आईने में ही दूसरे लोगों का व्यवहार झलकता है। उसमें वैसा ही प्रतिबिंब होता है, जैसा हम होते हैं। व्यवहार के धरातल पर ही जीवन रूपी मकान की नीवं टिकी हुई है। व्यवहार रूपी नीवं कमजोर है यानी व्यक्ति व्यवहार-कुशल नहीं है तो जीवन रूपी मकान बदहाल व जर्जर हो जाएगा। वह व्यक्ति हताश-निराश होकर कुंठा-ग्रस्त हो जाएगा और अपने-आप को अकेला महसूस करने लगेगा।

तेरापंथ धर्मसंघ की आज जो पहचान है, उसका मुख्य कारण है—'व्यवहार-कुशलता'। हमारे पूर्वाचार्य और वर्तमान आचार्य एवं साधु-साध्वियों ने अपने सिद्धांतों को अक्षुण्ण रखते हुए कभी भी अपने व्यवहार में कमी नहीं आने दी। व्यवहार के क्षेत्र में उन्होंने अपना ऊंचा आदर्श बनाए रखा। इसी का यह परिणाम है कि तेरापंथ धर्मसंघ सात समुद्रों पार भी अपना एक ऊंचा स्थान रखता है।

हर व्यक्ति शांत-सुखी और सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है। कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि मैं दुखी और अशांत जीवन जीऊं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—'आज स्वार्थ की प्रबलता से तथा व्यवहार का सही प्रशिक्षण न होने से परिवार में अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं और फिर ऐसे में व्यक्ति को कानून की शरण में जाना पड़ता है।' व्यवहार-कुशलता की कमी परिवार को कानून की गिरफ्त में पहुंचा देती है। क्यों? क्योंकि व्यक्ति में सहनशीलता की कमी आती जा रही है, करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है। एक-दूसरे के प्रति आदर-सम्मान, प्रेम-स्नेह की भावना कम होती जा रही है। इसी कारण आज परिवार व समाज टूटते जा रहे हैं।

अगर व्यक्ति व्यवहार-कुशल है तो वह हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित कर लेगा और परिवार, समाज को टूटने से बचा लेगा।

चयन व्यवहार-कुशलता का

व्यवहार-कुशल व्यक्ति सर्वत्र सफल होता है। प्रसंग है—प्रसिद्ध लेखक टालस्टाय का। टालस्टाय के एक निकटवर्ती मित्र ने अपने एक परिचित युवक मित्र को अपना सिफारिशी पत्र देकर उनके पास नौकरी के लिए भेजा। किंतु टालस्टाय ने उसे नकारते हुए एक अन्य युवक को नौकरी के लिए चुन लिया। मिलने पर मित्र ने उलाहना देते हुए कहा—मेरे भेजे गए युवक को नौकरी न देकर एक अनजान युवक को नौकरी दे दी, आखिर उसमें ऐसी क्या योग्यता थी, जो आपको भा गई?

टालस्टाय ने शांत स्वर में कहा—उसने प्रवेश से पूर्व आज्ञा मांगी, पायदान पर पैर पोंछकर आगे बढ़ा और मेरी इजाजत के बाद ही आसन ग्रहण किया। मेरे प्रश्नों के उत्तर भी संतोषजनक एवं आत्मविश्वासपूर्वक दिए। कुल मिलाकर विनम्रता, सजगता, व्यवहार-कुशलता, कार्य-क्षमता जैसे उत्तम गुणों के आधार पर मैंने उसका चयन किया। वे गुण आप द्वारा भेजे गए युवक में नहीं थे। वह धड़धड़ाता हुआ मेरे पास चला आया, न व्यवहार ठीक था और प्रश्नों के उत्तर भी वह ठीक ढंग से नहीं दे सका। मित्र ने मान लिया कि टालस्टाय का चयन सही था। व्यवहार में अकुशल व्यक्ति सर्वत्र असफल ही होता है।

जिंदगी में सफलता हासिल करने के लिए अच्छे व्यवहार का होना बहुत जरूरी है। एक बार गुरु नानक किसी गांव पधारे। उस गांव के लोगों ने गुरु नानक एवं उनके शिष्यों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, पर गुरु नानक ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'बसे रहो'। और दूसरे गांव की ओर चले गए। वहां के लोगों का व्यवहार बहुत मधुर और सम्मानजनक था। गुरु नानक ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'बिखर जाओ'। गुरु नानक के साथ जो शिष्य मंडली थी, उन्हें गुरु नानक का व्यवहार बहुत विचित्र लगा। आखिर एक शिष्य ने उनसे प्रश्न कर ही लिया—'प्रभो! पहले गांव के लोगों का व्यवहार इतना बुरा था, फिर भी आपने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'बसे रहो' और इस गांव के लोगों का व्यवहार इतना अच्छा है, जिन्हें आपने आशीर्वाद देते हुए कहा—'बिखर जाओ' यह कैसा न्याय?'

तब गुरु नानक ने शिष्य के प्रश्न को समाहित करते हुए कहा—'उस गांव के लोगों का व्यवहार अच्छा नहीं था, वे जहां भी जाएंगे अपने दुर्व्यवहार के अंश वहां भी बिखेर देंगे। इसलिए मैंने उन्हें वहीं बसे रहने का आशीर्वाद दिया और इस गांव के लोग जहां भी जाएंगे अपने अच्छे और मधुर व्यवहार की खुशबू वहां बिखेरेंगे और वहां के लोगों को भी वैसा ही बना देंगे।

अगरबत्ती और बीड़ी दोनों ही जलती हैं, मगर अगरबत्ती जलकर वातावरण को सुगंधित और खुशनुमा

बना देती है, वहीं बीड़ी जलकर वातावरण को बदबूदार बना देती है। ठीक इसी प्रकार अच्छे व्यवहार वाला व्यक्ति हर जगह अच्छाई बिखेरता है और बुरे व्यवहार वाला व्यक्ति बुराई। व्यक्ति कोई अच्छा या बुरा नहीं होता, अच्छा या बुरा होता है उसका व्यवहार।

भगवान महावीर के शांति, समता और आत्मीय व्यवहार ने विषधर चंडकौशिक को भी शांत-प्रशांत बना दिया। भगवान बुद्ध की अभय साधना व समझाने की व्यवहारपटु कला ने अंगुलीमाल जैसे नृशंस हत्यारे को करुणावान संत बना दिया। गहरी प्यास के बावजूद खलीफा हजरत अली के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार (कि यह अधिक प्यासा है, शरबत का प्याला इसे दे दो) से हत्या के उद्देश्य से तलवार का प्रहार करने वाला विद्रोही सद्भावी बन गया। एक गन्ने को पीठ पर मारकर दो टुकड़े कर देने वाली आक्रोशित धर्मपत्नी संत तुकाराम की मुस्कान व 'बड़ी समझदार हो, दोनों के लिए दो टुकड़े तो करने ही थे—सो कर दिए', इस मधुर वाक्य पर शांत हो गई। एक सौ आठ बार कुल्ला कर थूकने वाले पठान, संत एकनाथ के इस कथन पर कि 'तुम्हारी कृपा से आज मां-कावेरी की गोद में एक सौ आठ बार जाने का शुभ अवसर मिला'—पर पानी-पानी हो गया। 'मिट्टी का बर्तन भी तीन टकोरा मार कर परखा जाता है कि कहीं फूटा हुआ तो नहीं है। उसी तर्ज पर यह व्यक्ति माथे पर ठोला मारकर परखना चाहता है कि कहीं गुरु कच्चे तो नहीं हैं'—परम सद्गुरु भिक्षु स्वामी के इस अद्भुत-अनकल्पित विश्लेषण पर सिर पर ठोला मारने वाला गद्गद हो गया। 'हम वाद-विवाद कर आपको परास्त करना चाहते हैं'—जय-पराजय के इच्छुक विद्वानों को गुरुदेव तुलसी ने सहज, सरल वाक्य में कहा—'बिना समय की बरबादी किए यों ही कह दीजिए कि आचार्य तुलसी को हमने चर्चा में हरा दिया'। इस निरभिमान व्यवहार ने उन विद्वानों को गुरु तुलसी का परम भक्त बना दिया।

अच्छे व्यवहार वाला व्यक्ति वह होता है : 1. जो अपने-आप को ज्यादा प्रदर्शित करके, अपने अहंकार को पोषित नहीं करता। 2. जो दूसरों की त्रुटियों को सामूहिक रूप से उघाड़ने का प्रयास नहीं करता। 3. जो हर प्रश्न और समस्या का उत्तर शांत भाव से देने का प्रयास करता है। 4. जो दूसरों की रुचियों एवं भावनाओं का आदर करता है। 5. जो मितभाषी व मधुरभाषी होता है। 6. जो दूसरों के विचारों को सुनने का अधिक प्रयास करता है। 7. जो स्पष्टवादी होता है, किंतु अप्रिय सत्य कदापि नहीं बोलता।

सारांश यह है कि—1. व्यवहार मधुर हो, पर चापलूसी-भरा न हो। 2. व्यवहार सत्य से अनुप्राणित हो, पर कठोरता-युक्त न हो। 3. व्यवहार सौहार्द व सामंजस्य-भरा हो, पर कलह उभारने वाला न हो। 4. प्रत्येक व्यवहार में धर्म (अहिंसा, करुणा और संयम) झलकता हो। धर्म-स्थानों तक ही धर्माराधना सीमित न हो। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

_जैन भारती_ एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए _जैन भारती_ पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'आप मुझे नहीं जानते, मैं आपको जानता हूं। मैं आपका दुश्मन हूं। आपने मेरे भाई को फांसी की सजा सुनाई थी। उसकी संपत्ति जब्त कर ली थी। मैंने तभी बदला लेने की कसम खाई थी। मुझे मालूम हुआ—आप साधु के पास अकेले आए हैं। मैंने सोचा था, जब आप वापिस लौटेंगे तब मैं आपकी हत्या कर दूंगा। लेकिन पूरा दिन बीतने पर भी आप नहीं लौटे। तब मैं आपको खोजता हुआ इस तरफ आ रहा था। आपके अंगरक्षकों ने मुझे पहचान लिया। उन्होंने मुझे मारने की कोशिश की। पर मैं बच गया। अगर आपने मेरी मरहम-पट्टी न की होती तो मैं मर ही गया होता। आपने मेरी जान बचाई है। अगर मैं जीवित बचा और आपने चाहा तो जीवनभर आपकी सेवा करूंगा। अपने बेटों से भी यही कहूंगा। मुझे क्षमा करें।'

बालकथा

❑ तीन सवाल

❑ लियो तोल्सतोय

एक था राजा। वह बड़ा समझदार और धुन का पक्का था। वह जो सोचता उसका हल ढूंढ़कर ही चैन लेता। किसी भी काम में अपनी हार उसे बहुत अखरती। वह सोचता, क्या उपाय किया जाए, जिससे वह कभी न हारे।

एक दिन उसके मन में तीन सवाल उठे। पहला सवाल था—किसी काम को करने का सही समय कौन-सा होता है? दूसरा सवाल था—किसकी बात सुननी चाहिए और किसे टालना चाहिए? और सबसे बड़ा तीसरा सवाल था कि सबसे जरूरी काम कौन-सा है?

अपने इन तीन सवालों का जवाब पाने के लिए राजा ने अपने राज्य में डुगडुगी पिटवाई : 'जो भी इन तीन सवालों का जवाब देगा उसे इनाम दिया जाएगा।'

डुगडुगी पिटते ही दूर-दूर से लोग राजा के पास आने लगे।

पहले सवाल के जवाब में कुछ लोगों ने कहा—किसी काम को शुरू करने से पहले सोच लेना चाहिए कि काम कितने दिन या महीने में पूरा होगा। फिर काम करने का समय और तरीका नियत करना चाहिए। फिर उसी के अनुसार काम करना चाहिए। सही समय पर काम पूरा करने का यही एक सही तरीका है।

कुछ और लोगों का मानना था कि काम का समय तय करना कठिन है। लेकिन बेकार के कामों में समय न गंवाएं। जो भी आस-पास हो रहा हो उस काम में लग जाएं। एक तीसरा दल भी था। उसका कहना था—राजा अकेले हर काम शुरू करने का समय कैसे तय कर सकता है? राजा के पास सलाहकार होने चाहिएं। उनकी मदद से राजा तय कर सकता है कि काम कब और कैसे किया जाए।

लेकिन कुछ और लोग भी थे। उनका कहना था—हर काम का समय पहले से सोचना कठिन है। आलस में समय न बिताएं। जो भी काम सामने हो उसे पूरा कर लें। किसी ने कहा कि कई बार सलाह लेने का समय ही नहीं होता। लेकिन जवाब तुरंत चाहिए। तब सही जवाब केवल जादूगर ही दे सकते हैं। बस, वे जादू से सब-कुछ जानकर राजा को बता देंगे।

इसी तरह दूसरे सवाल के भी कई जवाब थे। कुछ लोगों का कहना था—राजा के लिए सलाहकार बहुत

जरूरी होते हैं। कुछ पुजारी और कुछ वैद्य को जरूरी बता रहे थे। किसी ने राजा के लिए सबसे अधिक आवश्यक सैनिकों को माना।

तीसरे सवाल के जवाब भी कई थे। सवाल था—सबसे जरूरी काम कौन-सा है? कुछ ने कहा ज्ञान-विज्ञान, तो कुछ ने रणनीति। किसी और ने कहा दान-धरम।

सारे जवाब अलग-अलग थे। राजा को एक भी जवाब सही नहीं लगा। राजा ने सुना था कि पास के जंगल में बरसों से एक साधु तप कर रहे हैं। वे केवल साधारण जनों से मिलते हैं। उनके ज्ञान की चर्चा बड़ी दूर-दूर तक थी। अपने सवालों का जवाब पाने के लिए राजा ने मन-ही-मन उनसे मिलना तय किया।

दूसरे दिन राजा ने राजसी पोशाक उतार कर साधारण कपड़े पहने। कुछ अंगरक्षकों को साथ ले लिया। घोड़े पर सवार होकर राजा जंगल की ओर गया। काफी देर बाद पेड़ों के झुरमुट में उसे साधु की झोपड़ी दिखाई दी। राजा घोड़े से उतर गया। उसने अंगरक्षकों को वहीं खड़े रहने का आदेश दिया। फिर राजा पैदल ही साधु के पास पहुंचा।

राजा ने देखा—साधु बड़ी लगन से झोपड़ी के सामने की जमीन खोद रहे थे। उनका शरीर दुबला-पतला था। कुदाल से खोदते समय वे जोर-जोर से सांस ले रहे थे। राजा को पास आता देखकर साधु रुक गए। उन्होंने राजा का अभिवादन किया, फिर अपने काम में लग गए।

राजा बोला, 'मैं आपके पास अपने कुछ सवालों के जवाब पाने की आशा में आया हूं। मेरा पहला सवाल है, किसी काम की शुरुआत करने के लिए सही समय कौन-सा है? दूसरा, मुझे किन लोगों की जरूरत सबसे ज्यादा है? मुझे किन पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए? और तीसरा, यह कैसे पता लगे कि सबसे अधिक जरूरी काम क्या है? मुझे सबसे पहले क्या करना चाहिए?'

सवाल सुनकर भी साधु ने कोई जवाब नहीं दिया। वे काम में जुटे रहे।

राजा कुछ देर चुपचाप खड़ा देखता रहा। साधु कुदाल चलाते, मिट्टी हटाते और हांफ उठते। यह देख राजा का मन पसीज उठा। वह बोला, 'आप कुदाल मुझे दीजिए। कुछ देर मैं खोद दूं।'

साधु ने चुपचाप कुदाल उसे थमा दी। खुद जमीन पर एक तरफ बैठ गए। एक घंटा हुआ, दूसरा हुआ। राजा खोदता रहा। सूरज पेड़ों के पीछे छुपने लगा। तब कुदाल एक तरफ रखकर राजा साधु से बोला, 'मैं आपके पास तीन सवाल लेकर आया हूं। आपने मेरे सवालों का जवाब नहीं दिया। यदि आप मेरे एक भी सवाल का जवाब नहीं जानते तो मुझे बताएं। मैं लौट जाऊं।'

इतना सुनकर भी साधु चुप रहे। तभी किसी के दौड़कर आने की आवाज सुनाई दी। साधु ने कहा, 'आओ, देखते हैं, कौन आया है?' राजा ने मुड़कर देखा। एक आदमी दौड़ता हुआ वहीं आ रहा था। वह दर्द से कराह रहा था। उसके पेट से खून बहकर उसके पैरों पर गिर रहा था। राजा के पास आकर वह कुछ बुदबुदाया। फिर बेहोश हो गया। राजा और साधु ने मिलकर उसे जमीन पर लिटाया। उसके कपड़े ढीले किए। उसके पेट में बहुत बड़ा घाव था। राजा ने उसका घाव धोकर पट्टी की। पर वह पट्टी खून से भर गई। राजा ने फिर से खून साफ किया और दूसरी पट्टी बांधी। दो-तीन बार पट्टियां बदलीं। तब कहीं खून बहना बंद हुआ। उस आदमी को होश आया तो उसने पानी मांगा। राजा ने ताजा पानी लाकर उसे पिलाया।

शाम ढल आई थी। हवा ठंडी हो चली थी। बाहर लेटा हुआ आदमी ठंड से कांप उठा। राजा और साधु ने मिलकर उसे झोपड़ी के भीतर सुलाया। वह आंखें बंद किए चुपचाप बिस्तर पर लेटा रहा। यह सब करते-करते राजा बहुत थक गया था। देहरी पर बैठते ही वह गहरी नींद में सो गया। दूसरे दिन सुबह उसकी आंख खुली। उसे समझ न आया कि वह कहां है? सामने लेटा हुआ बीमार आदमी कौन है? वह उसे एकटक देखता रहा।

धीमी कमजोर आवाज में उस आदमी ने राजा से *कहा, 'मुझे माफ कर दीजिए।' राजा पहले तो*

अचकचाया, फिर बोला, 'मैं तुम्हें नहीं जानता। तुम मुझसे माफी क्यों मांग रहे हो?'

'आप मुझे नहीं जानते, मैं आपको जानता हूं। मैं आपका दुश्मन हूं। आपने मेरे भाई को फांसी की सजा सुनाई थी। उसकी संपत्ति जब्त कर ली थी। मैंने तभी बदला लेने की कसम खाई थी। मुझे मालूम हुआ— आप साधु के पास अकेले आए हैं। मैंने सोचा था, जब आप वापिस लौटेंगे तब मैं आपकी हत्या कर दूंगा। लेकिन पूरा दिन बीतने पर भी आप नहीं लौटे। तब मैं आपको खोजता हुआ इस तरफ आ रहा था। आपके अंगरक्षकों ने मुझे पहचान लिया। उन्होंने मुझे मारने की कोशिश की। पर मैं बच गया। अगर आपने मेरी मरहम-पट्टी न की होती तो मैं मर ही गया होता। आपने मेरी जान बचाई है। अगर मैं जीवित बचा और आपने चाहा तो जीवनभर आपकी सेवा करूंगा। अपने बेटों से भी यही कहूंगा। मुझे क्षमा करें।'

सारी बात सुनकर राजा बहुत खुश हुआ। उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि शत्रु इतनी आसानी से मित्र बन सकता है। राजा ने उसे माफ कर दिया। उसे विश्वास दिलाया कि लौटकर वह उसकी देखभाल का पूरा इंतजाम करेगा।

राजा झोपड़ी से बाहर आया। साधु के पास जाकर बोला, 'मैं अंतिम बार आपसे अपने सवालों का हल मांग रहा हूं।'

साधु घुटनों के बल बैठे उन क्यारियों में बीज बो रहे थे जिन्हें कल तैयार किया था। साधु ने सिर उठाकर राजा से कहा, 'राजन्, तुम्हें तुम्हारे सवालों के जवाब मिल चुके हैं।'

राजा हैरान हुआ। उसने कहा, 'मैं समझा नहीं।'

साधु बोला, 'क्या तुम्हें मालूम नहीं? तुम अभी समझे नहीं? अगर कल तुम्हारे मन में मेरे लिए दया न आई होती तो तुम चले गए होते। तुमने ये क्यारियां तैयार न की होतीं। राह में यह आदमी तुम पर हमला करता। मेरे पास न रुकने के लिए तुम पछताते।

'जब तुम क्यारियां तैयार कर रहे थे, वही सबसे सही समय था। तब सबसे महत्त्व का आदमी मैं था। उस समय मेरा काम सबसे जरूरी काम था।

'जब वह आदमी दौड़कर हमारे पास आया और हमने उसकी मरहम-पट्टी की, वही सबसे सही समय था। अगर तुम उसकी मरहम-पट्टी न करते तो वह मर गया होता। इसलिए उस समय वही सबसे महत्त्व का आदमी था। तुमने उसके लिए जो भी किया, उस समय वही तुम्हारा सबसे जरूरी काम था।

'हमेशा याद रखना, सबसे सही समय वही होता है जब हमारे पास किसी भी तरह की शक्ति होती है। सबसे महत्त्व का आदमी वह होता है जिसके साथ हम होते हैं। कोई नहीं जानता कब क्या होगा। सबसे जरूरी काम है, अपने सामने संकट में पड़े आदमी की सहायता करना। इसीलिए हमें जीवन मिला है। दूसरों के काम आने में ही जीवन की सफलता है।' इतना कहकर साधु चुप हो गए।

साधु के जवाब सुनकर राजा को संतोष हुआ। राजा ने आदर से उनको प्रणाम किया। फिर उनसे विदा लेकर अपने महल की ओर चल दिया। ❖

अनुवाद : **चंद्रकिरण राठी**

जीना दुख है, व्याधि दुख है, जरावस्था दुख है, अप्रिय का संयोग दुख है, प्रिय का वियोग दुख है, मनोकामना का पूर्ण न होना दुख है। यह शरीर-स्कंध और यह चित्त-स्कंध, जिसे अपने बावलेपन में 'मैं' मान रहा हूं और 'मैं' मानकर ही नहीं रह जाता, उसके साथ इतना गहरा उपादान, अभिनिवेश जगा रहा हूं, अरे! मानस के गहनतम धरातल पर सही दुख तो यही है। 'मैं' के प्रति जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुख है। एक तो यह नकली 'मैं', तिस पर इससे इतना गहरा चिपकाव। इस 'मैं' के प्रति, 'स्व' के प्रति, 'अहं' के प्रति, 'अपने-आप' के प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुख ही है। जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुख है।

—सत्यनारायण गोयनका

With Best Compliments From :

HIRALAL MALOO
HEMANT MALOO
(SUJANGARH)

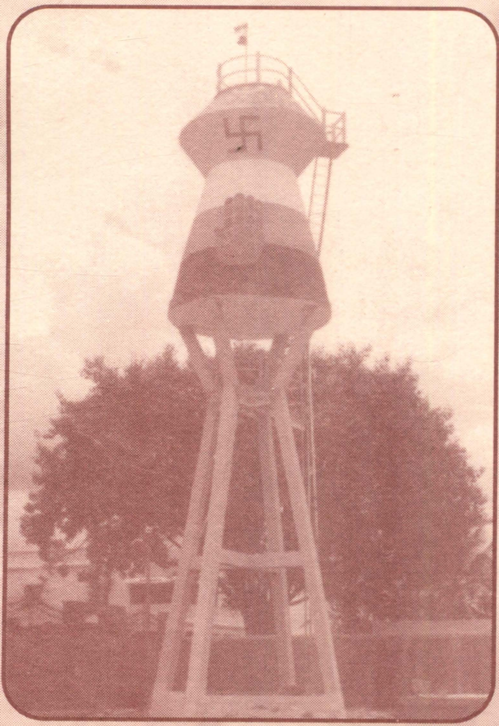

Overhead Water Tank 36,000 Ltrs. Capacity and 51 feet Height at
'ACHARYA SRI TULSI MAHAPRAGYA CHETANA KENDRA'
Designed and constructed by

Maloo Constructions

A-204, IInd Floor, 25/26, Brigade Majestic
Ist Main Road, Gandhinagar, Bangalore 560009
Phone : Office : 22264530, 22265737, Res. : 23403233, 23402756
Mobile : 9844027560 ◆ e-mail : maloocons@vsnl.com

जैन भारती, अप्रैल, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05

'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

With Best Compliments From :

MICRO LABS LIMITED

MAKERS OF QUALITY HEALTHCARE PRODUCTS

Headed by
Sri Ghewarchand Surana, Chairman
Sri Dilip Surana, Managing Director
Sri Anand Surana, Director

303, Queens Corner, 3 Queens Road, Bangalore 560001

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।